

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

प्रवेशांक • त्रैमासिक • अक्टूबर-दिसम्बर 2008 • मूल्य : 10 रुपये



साथी अरविन्द नहीं रहे
हमारे स्वप्नों, संकल्पों और संघर्षों में
जीवित रहेंगे अरविन्द हमेशा-हमेशा



शोक से जब शक्ति का इस्पात ढलता है
तब कहीं अवसाद का हिमखण्ड गलता है।

साथी अरविन्द तुम हमेशा छात्रों-युवाओं के लिए
प्रेरणा-स्रोत बने रहोगे!

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

➤ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नई क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की जरूरत का अहसास है। यह एक नई क्रान्तिकारी स्फिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➤ 'आह्वान' जिन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम जिन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के खिलाफ लड़ने का माद्दा और जिद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

स्मृति-शेष

साथी अरविन्द नहीं रहे
हमारे स्वप्नों, संकल्पों और संघर्षों में जीवित रहेंगे अरविन्द हमेशा-हमेशा 2

अपनी ओर से

लिंगदोह समिति का सच सामने है और हमारे कार्यभार भी 13

शिक्षा जगत

प्रधानमन्त्री का प्राथमिक शिक्षा पर स्याप 30

गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति की छात्र-विरोधी काली करतूतें 42

सामयिकी

कमरतोड़ महँगाई: पूँजीपति वर्ग द्वारा वसूला जाने वाला अप्रत्यक्ष कर 15

हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशाला: उड़ीसा 44

सामयिकी

बाढ़: मानव-जनित आपदा नहीं, व्यवस्था-जनित आपदा 39

स्मृति-शेष

फलस्तीनी मुक्ति संघर्ष के अमर गायक महमूद दरवेश नहीं रहे 36

गतिविधि बुलेटिन

मार्ग मुक्ति का गढ़ना होगा, सच्चा मानव बनना होगा! 32-35

प्रकाश विहार, दिल्ली में सांस्कृतिक कार्यक्रम से स्मृति संकल्प यात्रा समापन सप्ताह की शुरुआत ● दिल्ली विश्वविद्यालय में भगतसिंह पर व्याख्यान ● डा.इरफान हबीब की पुस्तक का प्रो. सव्यसाची भट्टाचार्य द्वारा लोकार्पण ● जन्तर-मन्तर पर छात्रों-नौजवानों-मजदूरों-महिलाओं के विशाल जुटान के साथ स्मृति संकल्प यात्रा का समापन

सकर्मक विमर्श

22-29

अमेरिकी संकट से भारतीय आई.टी. सेक्टर बढहाल ● सवा अरब आबादी और तीन पदक ● न्यायालय का शोकगीत और हम ● बजरंग दल: हिन्दु आतंकवाद ● बाल मजदूरों के खून से सना विकास का यह चकाचौंध ● खस्ताहाल शिक्षा सुविधाओं पर छात्रा-छात्राओं का प्रदर्शन ● संसद के गलियारों में भगतसिंह की प्रतिमा ● पूँजीवादी दार्शनिक की चिन्ता, मैनेजिंग कमेटी को सलाह ● एक घर हो सपनों का...

विश्व पटल पर

पूँजीवाद का नया तोहफा : खाद्यान्न संकट 17

महामन्दी - II 20

मुक्तिकामी छात्रों युवाओं का आह्वान

प्रवेशांक ● वर्ष 1 अंक 1
अक्टूबर-दिसम्बर 2008

सम्पादक
अभिनव/कविता

सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य
दस रुपये

वार्षिक सदस्यता: 50 रुपये
द्विवार्षिक सदस्यता: 100 रुपये
पंचवर्षीय सदस्यता: 250 रुपये
आजीवन सदस्यता: 2000 रुपये

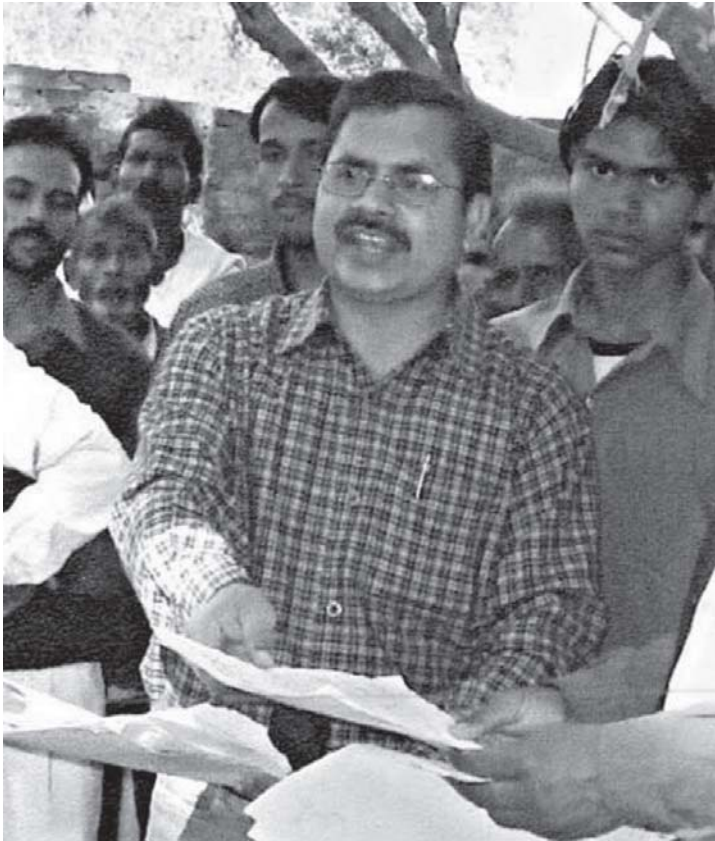
सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फोन : (011) 65976788, ईमेल : ahwan.editor@gmail.com
स्वत्वाधिकारी अभिनव सिन्हा द्वारा बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा
रुचिका प्रिण्टर्स, 1/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित।

साथी अरविन्द नहीं रहे!

छात्रों-युवाओं ने खो दिया अपना प्रिय मार्गदर्शक और नेता, मेहनतकशों ने खो दिया अपना जुझारू और भरोसेमन्द सेनापति और साथियों ने खो दिया अपने हृदय का एक टुकड़ा!

हमारे स्वप्नों, संकल्पों और संघर्षों में जीवित रहेंगे अरविन्द हमेशा-हमेशा!

विगत 24 जुलाई, 2008 को हम सभी के प्रिय अग्रज साथी, नेता और राजनीतिक शिक्षक **अरविन्द** हम सबसे हमेशा-हमेशा के लिए जुदा हो गये। शोक सन्तप्त, बोझिल हृदय से हम अभी भी इस बेरहम सच्चाई को स्वीकार करने की कोशिश कर रहे हैं। अरविन्द का इस तरह अप्रत्याशित हमारे बीच से हमेशा के लिए चले जाना न केवल हमारे लिए वज्राघात है, बल्कि पूरे देश के मेहनतकश अवागम और छात्रों-युवाओं के क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए एक भारी धक्का है।



टालते जा रहे थे। दरअसल स्वास्थ्य की समस्या की गम्भीरता का अहसास न तो उन्हें ही था और न ही साथियों को। 23 जुलाई को उन्हें बहुत अधिक कमजोरी और सांस लेने में परेशानी होने पर जब गोरखपुर के एक नर्सिंग होम में भर्ती कराया गया तो पता चला कि फेफड़े और श्वासनली के गम्भीर संक्रमण के कारण दिल पर बहुत अधिक दबाव है। कुछ और जाँच के बाद पता चला कि गुर्दे भी काम नहीं कर रहे हैं तथा आँतों में भी गम्भीर संक्रमण है। डायलिसिस शुरू हो

साथी अरविन्द की छिटपुट अस्वस्थता की समस्या निरन्तर आन्दोलनात्मक व्यस्तताओं, राजनीतिक यात्राओं और लेखन-कार्य की व्यस्तताओं के बीच पिछले लगभग डेढ़-दो माह से लगातार जारी थी। थॉयरायड की समस्या उन्हें पहले से थी। कुछ साथियों के आग्रह के बावजूद विस्तृत डॉक्टरों की जाँच का काम राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण वे

पाये, इसके पहले ही थोड़े-थोड़े अन्तराल पर उन्हें दिल के तीन गम्भीर दौरे पड़े और रात लगभग 9.40 से 9.45 के बीच हमारा प्यारा साथी और मेधावी और जुझारू नेता हमसे सदा के लिए दूर चला गया।

साथी अरविन्द की मृत्यु एक सामान्य मृत्यु नहीं है। यह प्रतिक्रिया और विपर्यय के हिमयुग में जीते हुए एक ठण्डे-बेरहम समय के विरुद्ध संघर्ष में जूझते हुए दी गयी

एक अनमोल अविस्मरणीय शहादत है। क्रान्तिकारी उभार के दिनों के मुकाबले ऐसे ठण्डे, गतिरोध भरे दिनों में जूझना और कुर्बानी देना कहीं अधिक कठिन होता है और दुर्लभ भी। हम एक ऐसे असामान्य कठिन समय में जी रहे हैं जब तमाम मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वामपन्थी मुहावरों की जुगाली करते हुए पद-पीठ-पुरस्कारों की कुत्तादौड़ में भाग रहे हैं और हत्यारों की महफ़िल में राग दरबारी गा रहे हैं। ज़िन्दगी के ज़िन्दा सवाल को उत्तरआधुनिक भाषाई खेल में गायब कर दिया गया है और अस्मितावादी राजनीति का परचम थामे बहुतेरे भूतपूर्व क्रान्तिकारी एन.जी.ओ.-पन्थ के शरणागत हो चुके हैं।

पाश के शब्दों में कहा जा सकता है :

यह शर्मनाक हादसा हमारे ही साथ होना था

कि दुनिया के सबसे पवित्र शब्दों ने बन जाना था सिंहासन की खड़ाऊँ मार्क्स का सिंह जैसा सिर दिल्ली की भूल-भूलैयों में भिमियाता फिरता हमें ही देखना था मेरे यारो, यह कुफ़्र हमारे ही समयों में होना था

लेकिन साथी अरविन्द ऐसे क्रान्तिकारी थे, जो मेहनतकश जनता की अन्तिम विजय में अडिग विश्वास के साथ हमेशा धारा के विरुद्ध तैरते रहे। दुनियादारी और मौकापरस्ती से उन्हें गहरी नफ़रत थी। घोंसलावादी



छात्र जीवन के दौरान एक कार्यक्रम में क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत करते हुए

कुर्सीतोड़ “क्रान्तिकारियों,” भगोड़ों-गद्दारों और कैरियरवादियों के विरुद्ध वे समझौताहीन संघर्ष के हिमायती थे। वे एक ऐसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी थे, जो सच्चे अर्थों में अपनी



एक साईकिल अभियान में युवाओं का नेतृत्व करते हुए

मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि एवं संस्कारों से निर्णायक विच्छेद करके बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्ष को दिल से अपना बना चुका था। **इकबाल** की ये पंक्तियाँ वे अक्सर साथियों को सुनाते रहते थे :

नहीं तेरा बसेरा क़से-सुल्तानी के गुम्बद पर तू शाहीं है बसेरा कर पहाड़ों की चट्टानों पर।

आज ‘आह्वान’ के सम्पादकों और नियमित लेखकों की जो पूरी टीम है, उसे साथी अरविन्द ने ही गहरे सरोकार, लगाव और सख्त अनुशासन के साथ ढाला था और शिक्षित-प्रशिक्षित किया था। आज **दिशा छात्र संगठन** और **नौजवान भारत सभा** की अगली क़तार के जो युवा संगठनकर्ता हैं, उनमें से अधिकांश की राजनीतिक भरती और शिक्षा-दीक्षा का काम अरविन्द ने ही किया था। विगत कुछ वर्षों से वे मुख्यतः मजदूर मोर्चे पर सक्रिय थे, मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार ‘**बिगुल**’ और बौद्धिक पत्रिका ‘**दायित्वबोध**’ के लिए लेखन और सम्पादन-कार्य में अपना अधिक समय दे रहे थे तथा देश के विभिन्न क्रान्तिकारी वाम गुपों से सम्पर्क-संवाद और क्रान्तिकारी

आन्दोलन के इतिहास एवं समस्याओं पर शोध-अध्ययन के काम में व्यस्त थे, लेकिन फिर भी हम युवाओं को उनका नेतृत्व और मार्गदर्शन लगातार मिलता रहता था। हमें गर्व है कि हमें एक ऐसे क्रान्तिकारी के साथ जीने और उनसे सीखने का अवसर मिला। हमें उनका राजनीतिक शिष्य होने पर गर्व है और हम संकल्प लेते हैं कि हम साथी अरविन्द की तरह निष्कलुष, समझौताहीन क्रान्तिकारी जीवन जियेंगे। हम उनके सपनों और लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्राणप्रण से संघर्ष करेंगे। हम वायदा करते हैं, परचम लहराता रहेगा, मशाल जलती रहेगी, यात्रा जारी रहेगी। दिवंगत होने के बाद, हमारा साथी और नेता हमारी आत्मिक सम्पदा का एक हिस्सा बन चुका है। उसकी स्मृतियाँ एक भौतिक शक्ति के रूप में हमारे साथ हैं। अब वह मनुष्य से एक प्रतीक-चिह्न

एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में 12 मार्च 1964 को हुआ था। पिता वाराणसी में टेलीफोन विभाग में कार्यरत थे, इसलिए पूरा परिवार 1965 में वाराणसी आ गया। वहीं अरविन्द की स्कूली शिक्षा की शुरुआत हुई। कटिंग मेमोरियल इण्टर कॉलेज से हाई स्कूल और सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल से इण्टरमीडिएट की पढ़ाई के बाद उन्होंने बी.एससी. (ऑनर्स) की शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पूरी की।

1981 में सत्रह वर्ष की आयु में बी.एच.यू. में प्रवेश के साथ ही छात्रों के एक रैडिकल सुधारवादी ग्रुप **एस.एस. डब्ल्यू.** के साथ अरविन्द ने अपनी राजनीतिक गतिविधियों की शुरुआत की। लेकिन एस.एस.डब्ल्यू. अपनी वैचारिक अस्पष्टता और दिशाहीनता के चलते जल्दी ही गतिरोध एवं विखराव का शिकार हो गया। 1984 में बी.एच.यू. में **गतिविधि**



स्मृति संकल्प यात्रा के एक साईकिल अभियान में युवाओं का नेतृत्व करते हुए

में रूपान्तरित हो चुका है, परचम पर अंकित एक निशान बन चुका है, जिसे हम कभी भी अपने से जुदा नहीं कर सकते।

साथी अरविन्द ने मात्र चौवालीस वर्षों का छोटा-सा जीवन पाया, पर इसे उन्होंने भरपूर ढंग से, तूफानी तरीके से जिया और इसके चौबीस वर्ष भारतीय मेहनतकश जनता के मुक्ति-महासमर में लगा दिये।

अरविन्द का जन्म सुल्तानपुर ज़िले के भेलारा गाँव में

विचार मंच नामक छात्रों का एक रैडिकल मंच गठित हुआ। यहीं से क्रान्तिकारी छात्र राजनीति की उस धारा का सूत्रपात हुआ, जिसकी विरासत को आज **दिशा छात्र संगठन** दिल्ली, उत्तर प्रदेश और पंजाब के विभिन्न हिस्सों में आगे बढ़ा रहा है। सितम्बर 1984 में अरविन्द 'गतिविधि विचार मंच' में सक्रिय हुए। एक वर्ष के भीतर विभिन्न आन्दोलनों, प्रचारात्मक कार्रवाइयों और गोष्ठियों-अध्ययन चक्रों आदि बौद्धिक उपक्रमों में प्रभावी भागीदारी के द्वारा अरविन्द ने एक मेधावी व्यावहारिक संगठनकर्ता और अध्ययनशील क्रान्तिकारी के रूप में अपने

सभी साथियों का विश्वास जीत लिया। आम छात्रों में वे काफ़ी लोकप्रिय थे। 1986 में 'छात्र आन्दोलन की दिशा' पर आयोजित अखिल भारतीय सेमिनार में उनकी प्रभावी भूमिका ने सभी का ध्यान आकृष्ट किया था।

1986-87 के दौरान बी.एच.यू. में नयी शिक्षा नीति के विरुद्ध चले लम्बे छात्र आन्दोलन में अरविन्द ने नेतृत्वकारी भूमिका निभायी थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई जिलों में नयी शिक्षा नीति विरोधी अभियान के अतिरिक्त 1985-89 के बीच कई प्रचार अभियानों का अरविन्द ने प्रभावशाली ढंग से नेतृत्व किया था। जुलाई-अगस्त '87 में पूर्वी उत्तर प्रदेश में इण्टर कॉलेज के छात्रों का जो जुझारू पत्नीस-बढ़ोत्तरी आन्दोलन चला था, उसमें अरविन्द की नेतृत्वकारी भूमिका रही थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में तब



एक साथी के बेटे के जन्म की खुशी में शरीक

पूर्वांचल नौजवान सभा नामक संगठन सक्रिय था, जिसे वर्तमान **नौजवान भारत सभा** का पूर्वज संगठन कहा जा सकता है। छात्र मोर्चे के बाद कुछ वर्षों तक अरविन्द ने गाँवों में नौजवान मोर्चे पर 'पूर्वांचल नौजवान सभा' के संगठनकर्ता के रूप में काम किया। इसी बीच क्रान्तिकारी वाम संगठनों से सम्पर्क-संवाद और अनुभवों के आदान-प्रदान के लिए उन्होंने दो बार बिहार-बंगाल की यात्रा की। एक क्रान्तिकारी राजनीतिक लेखक-पत्रकार के रूप में अरविन्द की भूमिका की शुरुआत **नौजवान** पत्रिका से हुई जिसके



अपनी जीवनसाथी से विवाह के मौके पर साथी अरविन्द

1988 में चार अंक प्रकाशित हुए थे।

जून, 1990 में गोरखपुर में **मार्क्सवाद ज़िन्दाबाद मंच** के बैनर तले समाजवाद की समस्याओं और सांस्कृतिक क्रान्ति पर आयोजित पाँच दिनों के अखिल भारतीय सेमिनार में अरविन्द ने चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान शिक्षा के क्षेत्र में हुए संघर्ष और प्रयोग पर एक सारगर्भित शोधपत्र प्रस्तुत किया था। सेमिनार में उनकी प्रभावी भागीदारी ने पूरे देश से आये क्रान्तिकारी नेताओं और बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट किया था।

1991 से लेकर 2003 के बीच उन्होंने ने गोरखपुर, लखनऊ, सुल्तानपुर, वाराणसी, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब में छात्रों-युवाओं के बीच काम करते हुए छात्र-नौजवान संगठनकर्ताओं की कई टीमों तैयार कीं। 1991 में **दायित्वबोध** और **आह्वान** का

प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इनमें नियमित लेखन और सम्पादन का काम करते हुए अरविन्द ने इन पत्रिकाओं की विशिष्ट पहचान बनाने में अहम भूमिका निभायी और नियमित लेखकों की पूरी टीम खड़ी करने का काम किया। 1996 में मज़दूर अखबार **बिगुल** का प्रकाशन शुरू हुआ। दायित्वबोध के साथ ही अब 'बिगुल' के लिए भी नियमित लेखन और सम्पादन में सहयोग का दायित्व अरविन्द के कंधों पर था। लेकिन 'आह्वान' के युवा सम्पादकों और लेखकों के मार्गदर्शन की ज़िम्मेदारी का काम भी उन्होंने बदस्तूर जारी रखा।

ग्रामीण मेहनतकश आबादी के बीच मर्यादपुर (मऊनाथभंजन) और सुल्तानपुर में अरविन्द ने 1991-93 के दौरान राजनीतिक कामों की शुरुआत की थी। वर्ष 2000 में दिल्ली आने के बाद छात्रों-युवाओं के बीच काम करते हुए उन्होंने नोएडा में असंगठित क्षेत्र के औद्योगिक मजदूरों के बीच राजनीतिक काम करना शुरू किया और फिर यही उनका मुख्य मोर्चा बन गया। इसी दौरान उनके ही मार्गदर्शन में लुधियाना में भी मजदूर मोर्चे पर कामों की शुरुआत हुई। दिल्ली में मजदूर मोर्चे पर काम करने के साथ-साथ अरविन्द जनवादी अधिकारों से जुड़े मुद्दों-मसलों पर होने वाली साझा

चयन-सम्पादन में वे हमेशा अहम भूमिका निभाते रहे। विश्व-क्लासिकी साहित्य में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। व्यस्त राजनीतिक जीवन से समय निकालकर उन्होंने दिदेरो की विश्व-प्रसिद्ध कृति **रामो का भतीजा** का हिन्दी अनुवाद (राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित) किया था जो काफ़ी चर्चित-प्रशंसित हुआ।

2005 से अरविन्द फिर से गोरखपुर और मर्यादपुर में काम कर रहे थे और इलाहाबाद में कार्यरत राजनीतिक संगठनकर्ताओं का भी मार्गदर्शन कर रहे थे। इस दौरान उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश में ग्रासरूट स्तर पर कई जनान्दोलन



साथी अरविन्द का पार्थिव शरीर

कार्रवाइयों में लगातार सक्रिय रहे और साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण-विरोधी विभिन्न अभियानों में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

अरविन्द एक कविहृदय क्रान्तिकारी थे। उनकी बौद्धिक-सांस्कृतिक अभिरुचियों और अध्ययन का दायरा काफ़ी व्यापक था। **समग्र सांस्कृतिक कार्यशाला** (फ़रवरी-मार्च '95, गोरखपुर) और **साझा सांस्कृतिक अभियान** (1999-2000) की बैठकों-संगोष्ठियों के प्रतिभागी सांस्कृतिकर्मी उनकी प्रतिभा, सरोकार और अध्ययन की गहराई से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। वे आज भी उन्हें बेहद प्यार और लगाव के साथ याद करते हैं। **'राहुल फ़ाउण्डेशन', 'परिकल्पना प्रकाशन'** और **'अनुराग ट्रस्ट'** की स्थापना एवं गतिविधियों में, विशेषकर प्रकाशन-सामग्री के

चलाये और युवा ऊर्जस्वी संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं की एक पूरी नयी टीम खड़ी कर डाली। निधन के दो माह पहले से वे गोरखपुर नगर निगम के सफ़ाईकर्मियों के सफल जुझारू आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। ज़मीनी स्तर की इन व्यस्तताओं और सम्पादन-लेखन तथा शोध-अध्ययन के कामों के बीच से समय निकालकर वे कोलकाता, आसनसोल, बर्दवान और पटना के क्रान्तिकारी गुप्तों से सम्पर्क-संवाद भी कर आते थे। एक सच्चे क्रान्तिकारी की तरह वे हर क्षण का इस्तेमाल करते थे। वे जीवन को सघन ढंग से जीने और पल-पल को उपयोगी बनाने का सलीका जानते थे। क्रान्ति उनके लिए तौरे-ज़िन्दगी थी।

अरविन्द एक खुशमिज़ाज, ज़िन्दादिल और परिवेश को ताज़गी से भर देने वाले सरल चित्त, तरल हृदय, पारदर्शी

व्यक्तित्व वाले इन्सान थे। वे साहसी और जुझारू थे, कठिन समय में भी विवेक नहीं खोते थे और कामों के दौरान सख्त अनुशासन और योजनाबद्धता के कायल थे। श्रम के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वथा क्रान्तिकारी था। छात्रों-युवाओं के कम्पून में साफ-सफाई, खाना बनाना सबकुछ वह स्वयं करके सिखाते थे। फुरसत मिलते ही हम लोगों को अपने हाथों बेसन का हलवा बनाकर खिलाते थे, बढ़िया चाय पिलाते थे, क्रिकेट की बारीकियों पर बहस करते थे, पंजा लड़ाते थे, दौड़ लगाते थे, अन्त्याक्षरी खेलते थे और कभी-कभी

भी उनके निधन पर गहरा शोक प्रकट किया है।

अरविन्द की स्मृति को अक्षुण्ण बनाने के लिए उनके साथियों की ओर से 'अरविन्द स्मृति न्यास' स्थापित करने का निर्णय लिया गया है। न्यास की विभिन्न गतिविधियों में 'अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान' की स्थापना प्रमुख होगी। यह संस्थान भारतीय समाज, राजनीति, अर्थनीति और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर शोध-अध्ययन को अपना प्रमुख कार्यभार बनायेगा। इन उपक्रमों के हम भी भागीदार हैं और इनमें भागीदारी के लिए सभी परिवर्तनकामी



साथी अरविन्द की अन्तिम यात्रा में शामिल कार्यकर्ताओं, छात्रों-युवाओं और नागरिकों का विशाल हुजूम

छात्रों-युवाओं का आह्वान करते हैं।

साथी अरविन्द की मेज़ पर बुकमार्क लगी कई किताबें, कई अधूरे लेख, कई लेखों की रूपरेखा, तरह-तरह के नोट्स, राजनीतिक यात्राओं की अधूरी रपटें और बैठकों के अधूरे कार्यवृत्त पड़े हुए हैं। बहुत सारे अधूरे काम वे निपटाने के लिए छोड़ गये हैं और यहीं से हमें एक नयी शुरुआत करनी है।

पुराने फ़िल्मी गीत भी सुनाते थे। वे हमेशा हमउम्र साथी लगते थे। ज्ञान, उम्र और अनुभव का कहीं कोई आतंक नहीं होता था। हमें गर्व होता है कि हमने ऐसे क्रान्तिकारी के साथ जीवन के कुछ वर्ष बिताये और राजनीतिक कामों की शिक्षा पायी। हमें अभी भी विश्वास नहीं होता कि साथी अरविन्द हमारे बीच नहीं हैं।

अचानक, अप्रत्याशित हमारे बीच से चले गये, लेकिन उन जैसे लोग अपने पीछे विरासत सम्हालने वाले उत्तराधिकारियों की नयी पीढ़ी छोड़ जाते हैं। हम अरविन्द की विरासत को सम्हालने के लिए संकल्पबद्ध हैं। जिस मुकाम पर मृत्यु ने हमसे हमारा साथी छीन लिया है, वहीं से जीवन-संघर्ष-सृजन की नयी यात्रा शुरू होगी।

अरविन्द

शोक से जब शक्ति का इस्पात ढलता है तब कहीं अवसाद का हिमखण्ड गलता है।

अरविन्द का जाना पूरे देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक ज़बरदस्त क्षति है। यह अनायास नहीं कि न केवल गोरखपुर, मर्यादपुर, लखनऊ, दिल्ली, लुधियाना आदि उनके कार्यक्षेत्रों में, बल्कि बिहार और छत्तीसगढ़ में भी राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने शोक-सभाओं का आयोजन किया। न केवल देश के कोने-कोने से राजनीतिक कार्यकर्ताओं और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों के शोक-सन्देशों का सिलसिला अभी तक जारी है, बल्कि नेपाल के क्रान्तिकारी संगठनों ने

हम अरविन्द की स्मृति से प्रेरणा और विचारों से दिशा लेने की शपथ लेते हैं और हर इन्साफ़पसन्द, प्रगतिकामी, साहसी, स्वाभिमानी, संवेदनशील युवा का आह्वान करते हैं : **उनके जैसा जियो!**

साथी अरविन्द की याद में...

शहीदों के लिए

जिन्दगी लड़ती रहेगी गाती रहेगी
नदियाँ बहती रहेंगी
कारवाँ चलता रहेगा, चलता रहेगा, बढ़ता रहेगा
मुक्ति की राह पर
छोड़कर साथियो, तुमको धरती की गोद में।

खो गये तुम हवा बनकर वतन की हर साँस
में
बिक चुकी इन वादियों में गन्ध बनकर घुल
गये
भूख से लड़ते हुए बच्चों की घायल आस में
कर्ज में डूबी हुई फसलों की रंगत बन गये
ख्वाबों के साथ तेरे चलता रहेगा...

हो गये कुर्बान जिस मिट्टी की खातिर साथियो
सो रहो अब आज उस ममतामयी की गोद में
मुक्ति के दिन तक फिजाँ में खो चुकेंगे नाम
तेरे
देश के हर नाम में जिन्दा रहोगे साथियो
यादों के साथ तेरे चलता रहेगा...

जब कभी भी लौटकर इन राहों से गुजरेंगे हम
जीत के सब गीत कई-कई बार हम फिर गायेंगे
खोज कैसे पायेंगे मिट्टी तुम्हारी साथियो
जूर-जूर को तुम्हारी ही समाधि पायेंगे
लेकर ये अरमाँ दिल में चलता रहेगा...

जीवन लक्ष्य

कठिनाइयों से रीता जीवन
मेरे लिए नहीं,
नहीं, मेरे तूफानी मन को यह स्वीकार नहीं।
मुझे तो चाहिए एक महान ऊँचा लक्ष्य
और, उसके लिए उम्रभर संघर्षों का अटूट क्रम।
ओ कला! तू खोल
मानवता की धरोहर, अपने अमूल्य कोषों के द्वार
मेरे लिए खोल!
अपनी प्रज्ञा और संवेगों के आलिंगन में

अखिल विश्व को बाँध लूँगा मैं!
आओ,
हम बीहड़ और कठिन सुदूर यात्रा पर चलें
आओ, क्योंकि
छिछला, निरुद्देश्य जीवन
हमें स्वीकार नहीं।
हम, ऊँघते, कलम घिसते हुए

उत्पीड़न और लाचारी में नहीं
जियेंगे।

हम आकांक्षा, आक्रोश,
आवेग और
अभिमान में जियेंगे!
असली इन्सान की तरह जियेंगे।

कार्ल मार्क्स

वजन हटा लो

पीली पड़ गयी घास पर से हटा
लो वजन
दो रातें ज़रा उसे ताज़ा हवा, ओस
की छुअन पाने दो
घास फिर हरी हो जायेगी।
शंघाई से अभी-अभी आया जो



नवयुवक अरविन्द

शशिप्रकाश

ताज़ा हवा का झोंका
उसे ज़रा घास के ऊपर बहने दो
घास लहरा-लहराकर
गीत गाने लगेगी, देखना।
पा जाएगी फिर,
बाधाओं में घिरकर, वजन सहकर,
मार खाकर भी न मरने का मिजाज़।

सब ठीक हो जायेगा
हांगहो फिर गाने लगेगा।
खुशी के गीत।
ऐसा होना ही है
जान से भी प्यारे कामरेडों को
दफ़नाते हुए
इतने आँसू, इतना खून,
इतना पसीना बहाते हुए
इस रपटीले पथ पर महीनों पर महीने

किसी अरुणाभ सुबह के लिए
हमारा चलना, चलते जाना
बेकार नहीं होगा।



साथी अरविन्द की याद में गीत गाते छात्र-नौजवान कार्यकर्ता

माओ त्से तुङ

मृत कॉमरेड के लिए

पलकें बन्द कर आँसू रोकने की
कोशिश की थी हमने



दिल्ली में श्रद्धांजलि सभा में अरविन्द को याद करते हुए

आँसू माने नहीं
सामने पड़ी है कॉमरेड लिड की लाश।

दुश्मनों के सीनों पर गोली बनकर
बिंधने से पहले
मरना नहीं चाह रहे थे कॉमरेड लिड।
उनकी लाश की तरफ भीगी
आँखों से खड़े हम।

साढ़े तीन हाथ ज़मीन पर
मुझे लिटाकर

आगे निकल जाओ तुम सब
रुके कि जंगल के किस कोने से
कब किस रूप में मौत
तुम्हें दबोच लेगी, पता नहीं।
यही समझाना चाह रहे हैं
कॉमरेड लिड के खामोश होंठ

खामोश बिगुल की शोकधुन के साथ
हम आगे बढ़ जायेंगे
पीछे मुड़कर नहीं देखेंगे
रातभर खाई-खन्दक लाँघते हुए
बढ़ते रहेंगे लक्ष्य की ओर
तब तक लाखों-लाख जुगनू
कॉमरेड लिड की देह में रोशनी
बनकर बसे रहेंगे।

माओ त्से तुङ

रात से

उदास बाजरा, सिर झुकाये खड़ा है
तारे भी बात नहीं करते
रात को क्या हुआ है...
ऐ रात, तू मेरे लिए उदास न हो
तू मेरी देनदार नहीं
रहने दे, इस तरह न सोच
जुगाली करते पशु कितने चुप हैं
और गाँव की स्निग्ध फ़िज़ा कितनी शान्त है
रहने दे, रात, तू ऐसे न सोच, तू मेरी आँखों में झाँक
ये उस बाँके यार को अब कभी न देखेंगी
जिसकी आज अख़बारों ने बात की है...
रात! तेरा उस दिन का वह रंग कहाँ है?
जब वह पहाड़ी चो के जल की तरह
जल्द-जल्द आया था
चाँदनी की लौ में पहले हम पढ़े
फिर चोरों की तरह बहस की
और फिर झगड़ पड़े थे
रात! तू तब तो खुश थी
जब हम लड़ते थे
तू अब क्यों उदास है
जब हम बिछड़ गये हैं
रात, तुझे जानेवाले की कसम
तेरा यों उदास होना बनता नहीं है
में तेरा देनदार हूँ
तू मेरी देनदार नहीं

रात, तू मुझे बधाई दे
 में इन खेतों को बधाई देता हूँ
 खेतों को सब पता है
 आदमी का लहू कहाँ गिरता है
 और लहू का मोल क्या होता
 ये खेत सब जानते हैं



**साथी अरविन्द के अन्तिम सफर में नारे लगाता हुए
 भाव-विह्वल लोगों का विशाल समूह**

इसलिए ऐ रात!
 तू मेरी आँखों में देख
 और मैं भविष्य की आँखों में देखता हूँ।

ज़िन्दगी/मौत

जीने का एक और भी ढंग होता है
 भरी ट्रैफ़िक के बीचो-बीच लेट जाना और जाम कर देना
 वक्त का बोझिल पहिया।

मरने का एक और भी ढंग होता है
 मौत के चेहरे से उलट देना नक़ाम
 और ज़िन्दगी की चार सौ बीसी को
 सरेआम बेपर्दा कर देना।

हमारे लहू को आदत है
 मौसम नहीं देखता, महफ़िल नहीं देखता
 ज़िन्दगी के जश्न शुरू कर देता है
 सूली के गीत छेड़ देता है

शब्द हैं कि पत्थरों पर बह-बहकर घिस जाते हैं
 लहू है कि तब भी गाता है

ज़रा सोचें कि रूठी सर्द रातों को कौन मनाये?
 निर्मोही पलों को हथेलियों पर कौन खिलाये?
 लहू ही है जो रोज़ धाराओं के होंठ चूमता है
 लहू तारीख़ की दीवारों को उल्लाँघ आता है
 यह जश्न यह गीत किसी को बहुत हैं
 जो कल तक हमारे लहू की ख़ामोश नदी में
 तैरने का अभ्यास करते थे।

पाश

जिन्होंने उम्रभर तलवार का गीत गाया है
 उनके शब्द लहू के होते हैं
 लहू लोहे का होता है
 जो मौत के किनारे जीते हैं
 उनकी मौत से ज़िन्दगी का सफ़र शुरू होता है
 जिनका लहू और पसीना मिट्टी में गिर जाता है
 वे मिट्टी में दबकर उग आते हैं।

पाश

सबसे ख़ूबसूरत है वह समुद्र
 जिसे अब तक देखा नहीं हमने
 सबसे ख़ूबसूरत बच्चा
 अब तक बड़ा नहीं हुआ
 सबसे ख़ूबसूरत हैं वे दिन
 जिन्हें अभी तक जिया नहीं हमने
 सबसे ख़ूबसूरत हैं वे बातें
 जो अभी कही जानी हैं

पाश

नाज़िम हिकमत



एक गोष्ठी को सम्बोधित करते साथी अरविन्द

हम ख़ूबसूरत दिन देखेंगे, बच्चो,
 हम देखेंगे धूप के उजले दिन
 हम दौड़ायेंगे, बच्चो,

पाश

अपने तेज़ रफ़्तार नावें खुले समन्दर में
हम दौड़ायेंगे,
उन्हें चमकीले-नीले-खुले समन्दर में...
ज़रा सोचो तो, पूरी रफ़्तार से जाती



साथी अरविन्द को याद करते हुए सहयोद्धा कात्यायनी

पहलू बदलती हुई मोटर
घरघराती हुई मोटर!

नाज़िम हिकमत

धूल की जगह राख होना चाहूँगा मैं
मैं चाहूँगा कि एक देदीप्यमान ज्वाला बन जाये
भड़ककर मेरी चिनगारी
बजाय इसके कि सड़े काठ में उसका दम घुट जाये।
एक ऊँघते हुए स्थायी ग्रह के बजाय
मैं होना चाहूँगा एक शानदार उल्का
मेरा प्रत्येक अणु उदीप्त हो भव्यता के साथ।
मनुष्य का सही काम है जीना,
न कि सिर्फ जीवित रहना।
अपने दिन मैं बर्बाद नहीं करूँगा
उन्हें लम्बा बनाने की कोशिश में।
मैं अपने समय का इस्तेमाल करूँगा।

जैक लण्डन

इतिहास उन्हें ही महान मनुष्य मानता है, जो सामान्य लक्ष्य के लिए काम करके, स्वयं उदात्त बन जाते हैं; अनुभव सर्वाधिक सुखी मनुष्य के रूप में उसी व्यक्ति की स्तुति करता है जिसने लोगों की अधिक से अधिक संख्या के लिए सुख की सृष्टि की है।

कार्ल मार्क्स

“पेशे का चुनाव करने के सम्बन्ध में एक नौजवान के विचार”

हमने यदि ऐसा पेशा चुना है जिसके माध्यम से मानवता की हम अधिक सेवा कर सकते हैं तो उसके नीचे हम दबेंगे नहीं क्योंकि यह ऐसा होता है जो सबके हित में किया जाता है। ऐसी स्थिति में हमें किसी तुच्छ, सीमित अहमवादी उल्लास की अनुभूति नहीं होगी, वरन तब हमारा व्यक्तिगत सुख जनगण का भी सुख होगा, हमारे कार्य तब एक शान्तिमय किन्तु सतत रूप से सक्रिय जीवन का रूप धारण कर लेंगे, और जिस दिन हमारी अर्थी उठेगी, उस दिन भले लोगों की आँखों में हमारे लिए गर्म आँसू होंगे।

**युवा कार्ल
मार्क्स
(‘पेशे का
चुनाव करने के
सम्बन्ध में एक
नौजवान के विचार’
नामक रचना से)**



दाढ़ी में एक दुर्लभ तस्वीर

हर आदमी एक न एक दिन ज़रूर मरता है, लेकिन हर आदमी की मौत की अहमियत अलग-अलग होती है।...जनता के लिए प्राण निखावर करना थार्ड पर्वत से भी ज़्यादा भारी अहमियत रखता है, जबकि फ़ासिस्टों के लिए तथा शोषकों व उत्पीड़कों के लिए जान देना पंख से भी ज़्यादा हल्की अहमियत रखता है।

माओ त्से तुङ

दूसरों के लिए प्रकाश की एक किरण बनना, दूसरों के जीवन को देदीप्यमान करना, यह सबसे बड़ा सुख है जो मानव प्राप्त कर सकता है। इसके बाद कष्टों अथवा पीड़ा से, दुर्भाग्य अथवा अभाव से मानव नहीं डरता। फिर मृत्यु का भय उसके अन्दर से मिट जाता है, यद्यपि, वास्तव में जीवन को प्यार करना वह तभी सीखता है। और, केवल तभी पृथ्वी पर आँखें खोलकर वह इस तरह चल पाता है कि जिससे कि वह सब कुछ देख, सुन और समझ सके; केवल तभी अपने संकुचित घोंघे से निकलकर वह बाहर प्रकाश में आ सकता है और समस्त मानवजाति के सुखों और दुःखों का अनुभव कर सकता है। और केवल तभी वह वास्तविक मानव बन सकता है।

एफ़. ज़र्ज़िन्की

आदरणीय सम्पादक मण्डल,

आह्वान का जनवरी-मार्च 2008 अंक पढ़कर अपार खुशी मिली। आज जबकि क्रान्ति पर प्रतिक्रान्ति की लहर हावी है और गतिरोध के कारण बर्बादी का माहौल छा चुका है जिसके बलबूते पर नकारात्मक ताकतें अंधेरगर्दी, बेइंसाफी और धक्कड़शाहियों का ताण्डव दिनदिहाड़े सरैआम कर रही हैं तब ही शोषितों और मनुष्य की आजादी के परवानों को एकसूत्र में पिरोने के लिए किसी “आह्वान” की जरूरत थी। और यह जिम्मेदारी ‘आह्वान’ बखूबी निभा रहा है।

इस बहुमूल्य पत्रिका में जिन्दगी के सारे पहलुओं को समेटा गया है। इसलिए पढ़ते वक़्त ऐसा जान पड़ता है कि जैसे युधिष्ठिर यक्ष प्रश्नों का जवाब दे रहा हो। ‘छात्र युवा आन्दोलन’ नामक लेख ऐसे समय में बहुत ही उपयोगी है जिस समय में समाज को हो चुकी बीमारी के कारण छात्र-युवा लड़ाइयाँ, तोड़फोड़ करने, गन्दी कित्ताबें पढ़ने, घटिया फिल्में देखने आदि जैसे तमाम रोगों के शिकार हो चुके हैं। “कैम्पस के अन्दर ...ताण्डव” नामक लेख नकारात्मक समाज की प्रतिष्ठित शिक्षा प्रणाली को कलंकित घोषित कर सच्चाई से अवगत करवाता है।

सामयिकी स्तम्भ के सभी लेख आज के समय में चल रहे वादों-विवादों के सारतत्व को उजागर करते हैं और मेहनतकशों को सलाह देता है कि इन वादों-विवादों से हमारा कोई तालमेल नहीं है जबकि हमारा ऐतिहासिक मिशन उस समाज को तबाह करना है जिसके पिटारे में से वर्णित वादों-विवादों के साँप निकलते हैं।

व्याख्या तो हर लेख की बड़ी विस्तारपूर्वक की जा सकती है परन्तु पत्र की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं। सब कुछ को “कुछ” में समेटते हुए यही कहूँगा कि आह्वान का प्रत्येक अंक सम्भाल कर रखने योग्य है। इसकी सामग्री और ज्ञान का कहीं कोई जवाब नहीं। लेखों की भाषा बड़ी ही सरल और स्वादिष्ट है। इस सबसे बढ़कर आह्वान सचमुच एक “आह्वान” है जिन्दादिलों, बहादुरों और अलबेलों के लिए क्योंकि खुद आह्वान के ही अनुसार इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

अब हमें प्रतीक्षा तो इस बात की है कि कब यह भयानक अंधेरों में जलता छोटा-सा दीपक आग उगलने वाला सूरज बन जाये और अपनी तपिश से तमाम नकारात्मक ताकतों को जलाकर राख कर देगा।

शुभकामनाओं सहित

संदीप तुंगा

**डाकघर कुलार खुर्द गाँव तुंगा
जिला संगरूर (पंजाब)**

मैं आह्वान का नियमित पाठक हूँ। मुनाफे के दौर में, जहाँ आज मानवीय संवेदनाओं, मानवता को कुचला जा रहा है, मेहनतकशों की हड्डियो का चूर्ण बना कर लाभ कमाने की तैयारी चल रही है, ऐसे मे आह्वान अन्धेरे में मुक्ति की मशाल की तरह काम कर रहा है। पिछले अंक में संसदीय वामपंथियों का अमेरिका का प्रेम नाम से एक लेख छपा था जिसमें इनके दोहरे चरित्र की चर्चा की गयी थी। अभी ‘कामरेड(?)’ बुद्धदेव भट्टचार्य के ताजा बयान

(कि मैं बन्द और हड़तालों का कभी समर्थक नहीं रहा) भी इनके दोहरे चरित्र को उजागर करता है।

**जयप्रकाश,
शाहदरा (दिल्ली)**

एक नौजवान की मौत

दोस्तो! ‘आह्वान’ के एक नियमित पाठक अमित ने हाल ही में गहरी हताशा में आत्महत्या कर ली। अमित ‘आह्वान’ के संवाददाता गौरव का मित्र था और क्रान्तिकारी जनकार्यों का एक शुभचिन्तक था। आत्महत्या करने से पहले उसने गौरव को एक पत्र लिखा था। हम इस पत्र को यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं और साथ ही हम इस पत्र पर एक सम्पादकीय टिप्पणी भी प्रकाशित कर रहे हैं। अमित की मौत कई परेशान कर देने वाले सवाल उठाती है। हर संवेदनशील व्यक्ति को अमित का यह पत्र बेचैन कर देता है और सोचने पर मजबूर कर देता है कि हम किस समाज में जी रहे हैं।
-सम्पादक

अमित का पत्र

3 अगस्त, 2008

क्रान्तिकारी अभिवादन

प्रिय मित्र गौरव,

दोस्त, मैं तुम्हे पहले एक बात बताऊँ। मैंने कई महीनों से कुछ भी पढ़ा नहीं है। जब बहुत ज्यादा किसी बात पर परेशान हो जाता हूँ तो आर्मी की विरान-सुनसान सड़कों पर अकेला ही निकल पड़ता हूँ। कभी कुछ लिखने की कोशिश भी करता हूँ और पढ़ने की भी सिर्फ कोशिश ही कर पाता हूँ। अपने अन्दर की कला व इंसानियत को खत्म नहीं करना चाहता पर अवसाद जैसी कई चीज़ें हैं जो अन्दर ही अन्दर अपना काम करती हैं। पर कई बार पेंटिंग करने का मन करता है, कभी लिखने-पढ़ने का, कभी संगीत का, पर अधिकतर उदासी और नकारात्मकता हर काम पर अपनी छाप छोड़ देती है।

चलो छोड़ो यार इन सब बातों के बारे में! अपने स्वभाव के बारे में क्या कहूँ? यह सब तो तुम जानते ही हो पर मैं भी क्या करूँ? इन बेकार की बातों के पीछे भी कई कारण हैं।

दिसम्बर में तुम से मिलना चाहता था पर मिल नहीं पाया। पुस्तक मेले का पिछले 4 सालों से बेसब्री से इंतज़ार था पर एक किताब तक लेने न आ सका। दिल्ली जिसे मैंने बचपन से ही अपना घर माना वो कई बार पराई हो जाती है। ऐसे ही कई कारण हैं कि मैं सही समय पर सही काम नहीं कर पा रहा हूँ। मैं दिल्ली-एन.सी.आर. में अपना रेजूम नहीं दे पा रहा हूँ। मेरा शरीर भी बर्झमान ही है वह किसी भी पल धोखा कर जाता है।

तुम्हें मैं लिखूँ भी तो क्या लिखूँ दोस्त! आज-कल लाइफ में कुछ भी चल तो रहा नहीं है। सारी लाइफ ही रुक सी गई है और तुम तो जानते ही हो जब लाइफ और पानी रुक जाता है तो वो सड़ने लगता है और मेरा भी कभी-कभी यही हाल हुआ करता है।

गौरव यार! तुम्हें भी लगेगा कि अमित अपने ही इर्द-गिर्द

(पेज 40 पर जारी)

लिंगदोह समिति का सच सामने है और हमारे कार्यभार भी...

हमने 'आह्वान' के पिछले अंकों में कई बार लिखा है कि लिंगदोह कमेटी के सुझावों का असली मकसद क्या है। यह पूरे कैम्पस के विराजनीतिकरण की साजिश का एक हिस्सा है। इस समिति के सुझाव, जिनके एक हिस्से को उच्चतम न्यायालय अब कानून का रूप दे चुका है, इतने भले और ईमानदार प्रतीत होते हैं कि आम मध्यवर्ग के छात्र और उनके अभिभावक इसका समर्थन करते हैं। यह कमेटी अपनी रिपोर्ट में छात्र राजनीति में मौजूद अपराध, गुण्डागर्दी और असामाजिक तत्वों पर काफी चिन्ता व्यक्त करती है और कहती है कि प्रशासन को इसे रोकने के लिए सख्त कदम उठाने होंगे। इसके लिए आगे कई सुझाव देते हुए समिति कहती है कि छपे हुए पोस्टरों और पर्चों को प्रतिबन्धित कर दिया जाना चाहिए, चुनाव प्रचार का खर्च 5000 रुपये तक सीमित कर दिया जाना चाहिए, चुनाव प्रचार के लिए आखिरी 5 दिन दिये जाने चाहिए, और इन नियमों के मामूली उल्लंघन होने पर भी उम्मीदवार की उम्मीदवारी को रद्द कर दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवार की अकादमिक उपस्थिति कम से कम 75 प्रतिशत होनी चाहिए क्योंकि तमाम लोग सिर्फ राजनीतिक करने के लिए दाखिला लेते हैं और पूरे कैम्पस का माहौल खराब करते हैं। किसी भी सीधे-सादे छात्र व नागरिक को ये अनुशंसाएँ एकदम तर्कसंगत लगेंगी। इसका कारण यह है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि कैम्पस में गुण्डागर्दी है, राजनीति में भ्रष्टाचार है, तमाम छात्र संगठनों द्वारा चुनावों में बेहिसाब खर्च किया जाता है, और पूरी राजनीति का लम्पटीकरण किया जाता है। इस अपराधीकरण और लम्पटीकरण से पूरे कैम्पस का अकादमिक माहौल चौपट होता है और आम छात्रों को इसका खामियाजा भुगतना पड़ता है। नतीजतन, आम छात्रों का एक विचारणीय हिस्सा यह सोचता है कि इससे तो बेहतर है कि छात्र संघ चुनाव ही न हों। या फिर वह चाहता है कि इसके भ्रष्टाचार और अपराधीकरण पर लगाम लगाने के लिए लिंगदोह कमेटी के सुझावों जैसे कड़े कदमों पर अमल किया जाना चाहिए। यह एक प्रकार का विराजनीतिकरण है। घटिया, भ्रष्ट और अपराधी किस्म की छात्र राजनीति से ऊबे हुए आम छात्र राजनीति से ही विमुख होने लगते हैं और राजनीति को ही सारी फसाद की जड़ समझ बैठते हैं। इस बात पर गौर करना जरूरी है कि वे कौन-से छात्र संगठन हैं जो इस किस्म के अपराधीकरण और भ्रष्ट आचरण के जिम्मेदार हैं? सभी छात्र अच्छी तरह से जानते हैं कि ये सभी छात्र संगठन इस या उस चुनावी पार्टी के पिछलग्गू हैं। चाहे वह कांग्रेस, भाजपा

जैसी शुद्ध पूँजीवादी पार्टियाँ हों या फिर संसदीय वामपंथी पार्टियाँ, इन सबके छात्र संगठन कैम्पस में मौजूद हैं और पूरी छात्र राजनीति को इन्होंने विधायक और सांसद बनने का प्रशिक्षण केन्द्र बना रखा है। जिस किस्म की राजनीति इन छात्र संगठनों की आका पार्टियाँ केन्द्र और राज्यों में कर रही हैं वैसी ही राजनीति ये छात्र संगठन कैम्पस में करते हैं और इसी राजनीति की नर्सरी में वे अपने नये रंगरूटों का प्रशिक्षण और भर्ती करते हैं।

नतीजे के तौर पर, हमारे सामने आज की छात्र राजनीति मौजूद है जिससे आम छात्र ऊबा और थका हुआ है। ऐसे में, लिंगदोह कमेटी इस राजनीति को साफ़ करने के नाम पर तमाम ऐसे सुझाव पेश करती है जो बेहद मुफ़ीद नज़र आते हैं। कथित रूप से इनका लक्ष्य छात्र राजनीति को अपराध और भ्रष्टाचार से मुक्त कराना होता है। छात्रों की एक बड़ी आबादी इसका समर्थन करती है। हमने पहले के अंकों में लिखा है कि लिंगदोह कमेटी के सुझावों का असली निशाना ये अपराधी, भ्रष्ट और चुनावी छात्र संगठन नहीं हैं बल्कि वे क्रान्तिकारी छात्र संगठन हैं जो छात्र राजनीति को एक क्रान्तिकारी मोड़ देने की क्षमता रखते हैं।

के छात्र संगठनों पर कोई असर में कई कैम्पसों में हुए चुनावों गई। इन चुनावी छात्र संगठनों जिस तरह से वे हमेशा लड़ते गया, गुण्डों की रैलियाँ और पोस्टरों से पूरे कैम्पस शराब बहायी गयी, और वे पर लिंगदोह कमेटी ने त्वैरियाँ था।

लिंगदोह कमेटी के संगठनों के बीच प्रचलित एक हैं। इसका जमकर मखौल टिशू पेपर की तरह इस्तेमाल लेकिन लिंगदोह कमेटी की प्रशासन पूरी सख़्खी के साथ

के ऊपर लागू करता है जिनका किसी चुनावी पार्टी से कोई लेना-देना नहीं होता है और जो शहीदे-आज़म भगतसिंह के विचारों को मानते हुए छात्र राजनीति को एक क्रान्तिकारी मोड़ देना चाहते हैं; जो छात्र संघ को क्रान्तिकारी छात्र राजनीति का एक मंच बनाना चाहते हैं और इसे चुनावी लगू-भग्गुओं से मुक्त कराना चाहते हैं।

लिंगदोह कमेटी का दूसरा लक्ष्य था कि पूँजीवादी राजनीति से लोगों के उठते विश्वास को बचाना। जो लोग पूँजीवादी राजनीति को एक नौटंकी और फिक्स्ड मैच मानने लगे थे उनमें नये सिरे से यह आस्था पैदा करना ज़रूरी था कि 'नहीं, इस खेल के कुछ नियम होते हैं और इनका पालन सभी के लिए अनिवार्य है!' यह भ्रम केवल कुछ समय के लिए पैदा किया जा सकता है। क्योंकि लिंगदोह कमेटी के सुझावों का क्या हश्च हुआ है, यह तो सबके सामने ही है।

कुल मिलाकर यह पूँजीपति शासक वर्ग की एक साज़िश है कि व्यापक छात्र आबादी का विराजनीतिकरण कर दिया जाय, कैम्पस को क्रान्तिकारी छात्र राजनीति से बचा कर रखा जाय, छात्र राजनीति को कुछ दिखावटी नियमों के पालन के साथ विधायक-सांसद बनने का प्रशिक्षण केन्द्र बने रहने दिया जाय और क्रान्तिकारी शक्तियों को कैम्पस के भीतर पैठने न दिया जाय।

जो भी छात्र इस बात को समझते हैं उन्हें ज़रूरत है कि वे आगे आँ और छात्र राजनीति में एक क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करें, संघर्ष करते हुए शासक वर्गों की इस साज़िश को सफल न होने दें और छात्र राजनीति को व्यापक आम जनता के संघर्षों और आन्दोलनों से जोड़ते हुए भगतसिंह और उनके साथियों के बताये रास्ते पर आगे बढ़ें। शिक्षा और रोज़गार के बुनियादी अधिकार के संघर्ष को आज छात्र राजनीति का बुनियादी सवाल बनाने की ज़रूरत है और छात्र आन्दोलन को युवाओं की उस भारी आबादी से जुड़ने की ज़रूरत है जो आज बेरोज़गार घूम रही है, शिक्षा के अधिकार से वंचित है और कल-कारखानों में मजदूर बनकर खट रही है। एक क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन ही वह चीज़ है जिसकी आज सबसे अधिक ज़रूरत है। कैम्पस के भीतर छापी हुई चुप्पी को भी इसी रास्ते से तोड़ा जा सकता है और छात्र राजनीति को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया जा सकता है।

“कुल मिलाकर यह पूँजीपति शासक वर्ग की एक साज़िश है कि व्यापक छात्र आबादी का विराजनीतिकरण कर दिया जाय, कैम्पस को क्रान्तिकारी छात्र राजनीति से बचा कर रखा जाय, छात्र राजनीति को कुछ दिखावटी नियमों के पालन के साथ विधायक-सांसद बनने का प्रशिक्षण केन्द्र बने रहने दिया जाय और क्रान्तिकारी शक्तियों को कैम्पस के भीतर पैठने न दिया जाय।”

इन सुझावों का चुनावी पार्टियों नहीं होने वाला है। हाल ही में यह बात साबित भी हो ने उसी तरह से चुनाव लड़ा आए हैं। जमकर पैसा बहाया निकाली गई, छपे हुए पर्चों को पाट दिया गया, जमकर तमाम काम किये गये जिन चढ़ाई थीं और मुँह लाल किया

सुझाव दरअसल इन छात्र लोकप्रिय चुटकुला बन चुके उड़ाया जाता है और इसका करके फेंक दिया जाता है। रिपोर्ट को विश्वविद्यालय उन क्रान्तिकारी छात्र संगठनों

महँगाई : कितनी और क्यों? कमरतोड़ महँगाई : पूँजीपति वर्ग द्वारा वसूला जाने वाला एक “अप्रत्यक्ष कर”

● शिशिर

18 सितम्बर को जारी महँगाई-सम्बन्धी आँकड़े के मुताबिक मुद्रास्फीति की दर 12.14 प्रतिशत पर पहुँच गई। हर शुक्रवार को (एकाध अपवादों को छोड़कर) मुद्रास्फीति की दर लगातार ही बढ़ती रही है। यह प्रक्रिया विशेष रूप से पिछले वर्ष के अन्त से शुरू हुई और इस वर्ष के मार्च-महीने से यह ‘टॉप गियर’ में चल रही है। मीडिया में मुद्रास्फीति की बढ़ती दर सुर्खी भी तभी बनी जब मार्च-अप्रैल में खतरे की घण्टी बजी। मुद्रास्फीति बढ़ उसके पहले से ही रही थी। देर से सुर्खियों में आने का कारण साफ है। भारत में बढ़ती मुद्रास्फीति एक आर्थिक से ज्यादा राजनीतिक परिघटना है। भारत के विशाल मेहनतकश वर्ग को जो तनखाहें मिलती हैं उसमें महँगाई की दर समायोजित नहीं होती। नतीजतन, अगर मुद्रास्फीति की दर में मामूली वृद्धि भी होती है तो उसका सीधा प्रतिकूल प्रभाव आम आदमी की वास्तविक आय और क्रय क्षमता पर पड़ता है। ऐसे में, मुद्रास्फीति की बढ़ती दर वोट बैंक राजनीति के समीकरणों को आसानी से खड़बड़ा देती है। सभी पूँजीवादी पार्टियों के लिए वोट बैंक राजनीति की माँग के मुताबिक महँगाई एक केन्द्रीय मुद्दा बन जाता है। अब यह बात दीगर है कि पूँजीपति वर्ग की ही प्रतिनिधि होने के चलते इनकी आर्थिक नीतियों में कोई फर्क नहीं है और इन भूमण्डलीकरण और नवउदारीकरण की नीतियों के तहत मुद्रास्फीति बढ़ेगी ही और महँगाई आम मेहनतकश आबादी की कमर तोड़ेगी ही। महँगाई कांग्रेस, भाजपा, संसदीय वामपंथियों और सपा-बसपा आदि जैसी तमाम पार्टियों के लिए महज़ एक चुनावी मुद्दा है। महँगाई पर काबू पाना न तो उनका इरादा है और न ही उनके बूते की बात है।

महँगाई के खबर बनने में देरी की एक और वजह थी। महँगाई पर जो आँकड़े सरकार जारी करती है वह थोक कीमतों पर आधारित मुद्रास्फीति दर दोहरी संख्या में नहीं आई या जब तक यह स्पष्ट नहीं हो गया कि मुद्रास्फीति की दर दहाई के आँकड़े को पार कर जाएगी तब तक यह मीडिया में खबर नहीं बनी। क्योंकि भूमण्डलीकरण के दौर में दहाई से नीचे रहने वाली 6-8 प्रतिशत तक वाली मुद्रास्फीति की दर को सामान्य माना जाता था। मार्च 2008 में जब थोक कीमतों पर आधारित मुद्रास्फीति 7 प्रतिशत के करीब थी, उस समय दुग्ध उत्पादों में इसकी दर 9.28 प्रतिशत, वनस्पति तेल में 19.03 प्रतिशत, लोहे और इस्पात में 26.86 प्रतिशत थी।

वर्ष 2008 में महँगाई की दर नाटकीय रूप से बढ़ी। फरवरी के पहले सप्ताह में मुद्रास्फीति की दर 4 प्रतिशत से थोड़ी अधिक थी। 2007 की फरवरी में यह दर साढ़े छह प्रतिशत थी। नवम्बर

2007 तक मुद्रास्फीति की दर लगातार गिरती रही और 3 प्रतिशत के करीब पहुँच गयी। इसके बाद मुद्रास्फीति की दर बढ़नी शुरू हुई और मार्च 2008 का अंत होते-होते मुद्रास्फीति की दर 7 प्रतिशत के करीब पहुँच गयी। और सितम्बर 2008 के मध्य तक मुद्रास्फीति की दर दोहरे आँकड़े को पार करते हुए सवा बारह के करीब पहुँच चुकी है। तमाम अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अभी दोहरे अंक की मुद्रास्फीति को लम्बे समय तक झेलना होगा और विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की जो दयनीय हालत है उसमें यह दर 17-18 प्रतिशत तक भी पहुँच सकती है। चूँकि खुदरा मूल्यों में यह दर दूनी है, इसलिए यह और भी अधिक चिन्ता का विषय है।

इस मुद्रास्फीति की दर का क्या कारण है? वित्तमंत्री महोदय ने इसके तीन कारण बताये हैं। पहला कारण है विश्व भर में बुनियादी वस्तुओं के मूल्यों में बढ़ोत्तरी, मिसाल के तौर पर पेट्रोलियम उत्पादों, खनिजों और धातुओं के मूल्यों में बढ़ोत्तरी। लेकिन आँकड़े बताते हैं कि अगर यह कोई कारण है तो जून 2006 से पहले महँगाई और अधिक होनी चाहिये थी जब ये सभी उत्पाद और अधिक महँगे थे।

कीमतों में बढ़ोत्तरी का दूसरा कारण चिदम्बरम के अनुसार उच्च आर्थिक वृद्धि की दर है जो उपभोग की दर को बढ़ा देती है जिसके कारण माँग-आपूर्ति का समीकरण अव्यवस्थित हो जाता है और अस्थायी रूप से कीमतों में वृद्धि होती है। अगर कारण यह है तो क्रान्ति के तुरन्त बाद के रूस और चीन में कीमतों में बढ़ोत्तरी होनी चाहिए थी। यह कारण उत्पादन में होने वाली बढ़ोत्तरी की उपेक्षा कर बाजार के कारण पैदा होने वाली कमी का ठीकरा जनता के सिर फोड़ता है। भारतीय जनता का प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपभोग 1980 के दशक से भी नीचे है, लेकिन खाद्यान्नों की कीमतें फिर भी आसमान छू रही हैं। यह कारण इस परिघटना की व्यख्या नहीं कर सकता।

चिदम्बरम महोदय ने जो तीसरा कारण बताया वह था फलों के चौपट होने के कारण आपूर्ति में हुई कमी। लेकिन यह आपूर्ति की कमी वास्तव में फसलों के चौपट होने से नहीं बल्कि बुनियादी खाद्य सामग्रियों के बाजार में होने वाली सट्टेबाजी, जमाखोरी और इजारेदारी के कारण हुई है।

चिदम्बरम जी मालिकों, कारपोरेट घरानों और पूँजीपति वर्ग के एक कुशल मुनीम हैं। लेकिन अराजक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मनमौजी गति को नापना कुशल से कुशल मुनीम की औकात के बाहर है। कई बार सबकुछ जानते हुए भी मामला हाथ से निकल जाता है। क्योंकि पूँजी की एक अपनी गति होती है और पूँजीपति वर्ग पूँजीवाद को मन-मुआफिक ढंग से नहीं चला सकता।

मुद्रास्फीति के रूप में पूँजीवाद के समक्ष संकट आवर्ती अंतराल पर आता रहता है। पूँजीवादी मुनाफे के दर में सतत गिरते जाने की प्रकृति होती है। इसका कारण यह होता है कि पूँजीवादी उत्पादन बढ़ता ही इस कीमत पर है कि वह व्यापक मेहनतकश जनता को उसकी क्रय क्षमता से वंचित करता जाता है। उत्पादन तो बढ़ता जाता है लेकिन उसे खरीदने की क्षमता से लैस आबादी कम होती जाती है। नतीजतन माल से बाज़ार पटा रहता है लेकिन वह मुद्रा में तब्दील होकर पूँजीपति वर्ग के पास वापस नहीं लौटता। मुनाफे की गिरती दर से निपटने के लिए और अपने लाभ को बढ़ाने के लिए पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को और अधिक निचोड़ने के लिए मुद्रास्फीति के औज़ार का उपयोग करता है। मज़दूरों की मज़दूरी को सीधे न घटाकर पूँजीवाद मुद्रा का अवमूल्यन करता है जिसके कारण मज़दूरों की तनखाहों में कोई कमी नहीं होती (कभी-कभी तो बढ़ोत्तरी होती है) लेकिन उनकी वास्तविक आय घट जाती है। 'प्रॉफिट क्रंच' से निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग अक्सर ही मुद्रास्फीति का सहारा लेता है। बढ़ती महँगाई पूँजीपति वर्ग के लिए परेशानी का सबब नहीं होता बल्कि जश्न का मौका होता है। कीमतें जितनी ऊपर हों, उनका उतना ही लाभ होता है। पूँजीवाद जनता से एक कर तो अपनी राजकीय कर व्यवस्था द्वारा लेता है और दूसरा कर वह परोक्ष रूप से महँगाई बढ़ाकर लेता है। यही वह अनौपचारिक अप्रत्यक्ष कर है जिससे पूँजीपति वर्ग अपने घाटे से निपटने की कोशिश करता है। बताने की आवश्यकता नहीं है कि लम्बे दौर में यह पूँजीवाद के लिए आत्मघाती सिद्ध होता है।

यही वह बुनियादी कारण है जिससे पूँजीवाद में महँगाई हमेशा बढ़ती है। **इस कारण के अतिरिक्त वर्तमान मुद्रास्फीति की दर के पीछे कई ढाँचागत और तात्कालिक कारण काम रहे हैं जो पूरी पूँजीवादी व्यवस्था की कलाई खोलकर रख देते हैं।** इन कारणों की समीक्षा भी यहाँ अनिवार्य है।

पहला कारण, जो कि एक ढाँचागत कारण है, वह है उदारीकरण की नीतियाँ। भूमण्डलीकरण के पूरे दौर में यह देर-सबेर होना ही था कि विशाल एग्रो-बिजनेस कम्पनियों को भारत के खाद्यान्न बाजार में सीधा व्यापार करने की इजाजत मिले। इस व्यापार से एक-एक करके सारी बाधाएँ और निषेधाज्ञाएँ खत्म की जा रही हैं। इससे *कारगिल* आदि जैसी विशाल कम्पनियों के लिए खाद्यान्न की जमाखोरी करना बेहद आसान हो गया है। ये कम्पनियाँ धनी किसानों और कुलकों को कहीं ज्यादा पैसा दे रही हैं और मुनाफे की हवस के चलते ये कुलक और बड़े किसान सरकार को खाद्यान्न बेचने की बजाय निजी कम्पनियों को अनाज बेच रहे हैं। नतीजतन, मौजूदा वित्तीय वर्ष में एफ.सी.आई. के लिए माँग की आपूर्ति के लिए आवश्यक न्यूनतम अनाज स्टॉक जुटाना भी मुश्किल हो रहा है। इसका इलाज पहले सरकार खाद्यान्न का आयात करके कर रही थी। लेकिन पिछले वर्ष से वैश्विक खाद्यान्न कीमतों को दी जाने वाली कीमतों से भी ऊँची कीमतों पर खाद्यान्न का आयात कर रही है। नतीजतन पूरी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ही लकवा मार गया है और महँगाई की सीधी मार आम गरीब जनता पर पड़ रही है। एक पूँजीवादी व्यवस्था में इस किस्म का उदारीकरण अवश्यम्भावी था। इस पर 'कल्याणकारी' राज्य और कींसियाई नुस्खों की वकालत करना संशोधनवादियों और संसदीय वामपंथी का काम है। सच तो यह है कि पूँजीवाद का वह 'कल्याणकारी' युग अब नहीं लौट सकता है।

महँगाई बढ़ने का **दूसरा कारण** है भारतीय पूँजीवादी राजनीति में कुलकों-फार्मरों की एक शक्तिशाली लॉबी की मौजूदगी जो वोट बैंक राजनीति के समीकरणों के कारण सभी चुनावी पार्टियों के लिए बेहद महत्वपूर्ण हो जाती है। सरकार द्वारा धनी किसानों को दिये जाने वाले लाभकारी मूल्य (मिनिमम सपोर्ट प्राइस-न्यूनतम समर्थन मूल्य) में हाल ही में भारी वृद्धि की गयी। किसानों के करोड़ों रुपये के कर्जों को माफ किया गया जिसकी भरपाई सरकार सब्सिडियों में कटौती करके करेगी, जिसकी सीधी मार गरीब जनता पर पड़ेगी। धनी किसान देश के बड़े औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के ही कनिष्ठ साझेदार हैं जो मुनाफे में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए दबाव डालते रहते हैं। पूँजीपति वर्ग वक्तन-ज़रूरतन कभी इसके सामने झुकता है तो कभी नहीं। यह आन्तरिक दोस्ताना अन्तर्विरोध कभी नर्म होता है तो कभी गर्म। लेकिन आम गरीब मेहनतकश आबादी के समक्ष ये दोनों एक हैं। अभी हाल ही में धान के लिए प्रति क्विण्टल कीमत को रु. 745 से बढ़ाकर रु. 1050 कर दिया गया। गेहूँ की दर रु. 850 प्रति क्विण्टल से बढ़ाकर रु. 1000 प्रति क्विण्टल कर दी गयी। इस प्रकार धनी किसानों का मुनाफे का लालच भी महँगाई को लगातार बढ़ा रहा है।

महँगाई बढ़ने का **तीसरा कारण** है घरेलू बाजार में खाद्यान्न के व्यापार में निजी कम्पनियों की खुली छूट मिलना। इसके कारण भारतीय खाद्य निगम द्वारा अन्न प्राप्ति में भारी गिरावट आयी है। आँकड़ों के मुताबिक 2001-02 में कुल खाद्यान्न उत्पादन का 30 प्रतिशत सार्वजनिक वितरण प्रणाली में आ रहा था। 2006-07 में यह सिर्फ 15 प्रतिशत रह गया। नतीजतन, सार्वजनिक वितरण प्रणाली चरमरा गयी। खाद्यान्न बाजार में कम्पनियों की इजारेदारियों पैदा हो रही हैं और सरकारी नियंत्रण व विनियमन समाप्त होने और फ्यूचर्स ट्रेड (एक प्रकार से भावी कीमतों की सट्टेबाजी) को बढ़ावा मिलने से खाद्यान्न बाजार में सट्टेबाजी बढ़ रही है जो महँगाई को बढ़ावा दे रही है।

महँगाई बढ़ने का **चौथा कारण** है तेल कीमतों में बढ़ोत्तरी। तेल एक बुनियादी वस्तु है और उत्पादन से लेकर वितरण तक इसके ईंधन के रूप में उपयोग के कारण इसका मूल्य माल के मूल्य में स्थानान्तरित हो जाता है। लेकिन जनता के लिए तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी को सरकार अप्रत्यक्ष करों को घटाकर रोक सकती थी। इससे तेल कम्पनियों को कम कर देना पड़ता और वे उसी कीमत पर तेल बेचकर भी घाटे से बच सकती थीं। सरकार के राजस्व में इससे थोड़ी कमी आती जो प्रत्यक्ष करों को और बढ़ाकर रोकी जा सकती थी। लेकिन इससे दो लोगों को भार अधिक उठाना पड़ता एक, इस देश के धनाढ्य वर्गों को और दो, सरकार को। अभी हाल ही में राष्ट्रपति और नेताओं के भत्ते में और बढ़ोत्तरी की गयी है। सरकार को अपने राजस्व में कटौती मंजूर नहीं है और धनिक वर्गों पर वह और बोझ डाल नहीं सकती। वह चाकरी ही इन वर्गों की करती है।

पाँचवा कारण है धातु, खनिजों और अन्य बुनियादी वस्तुओं की अन्तरराष्ट्रीय कीमतों में वृद्धि। भूमण्डलीकरण से पहले के दौर में इन बदलावों से एक हद तक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बचाना सम्भव था। लेकिन भूमण्डलीकरण (जो कि पूँजीवादी व्यवस्था के समक्ष एकमात्र विकल्प था) के दौर में यह नामुमकिन हो गया है। अब विश्व बाजार में कीमतों को आने वाली हिचकी मात्र से घरेलू

(पेज 19 पर जारी)

खाद्यान्न संकट

पूँजीवाद का नया तोहफा

● अभिनव

वर्ष 2007 और 2008 कई मायनों में पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के लिए काफी दिक्कततलब साबित हुए। जहाँ 2007 में पूँजीवादी विश्व के चौधरी अमेरिका की अर्थव्यवस्था एक ज़बर्दस्त वित्तीय संकट में फँसी (जिससे वह अभी भी उबर नहीं सकी है), वहीं वर्ष 2008 ने पूँजीवाद का स्वागत भयंकर महँगाई, बेरोज़गारी की अभूतपूर्व दर और खाद्य संकट के साथ किया। बताने की जरूरत नहीं है कि इन संकटों के कारण अन्तर्सम्बन्धित हैं। विश्व पर पूँजीवाद की अन्तिम विजय की उम्मीद और दम्भपूर्ण घोषणाओं का युग अब बीत चुका है। विश्व भर में तीसरी दुनिया के देशों की जनता के सामने यह तथ्य आने लगा है कि पूँजीवादी व्यवस्था उन्हें क्या दे सकती है।

जिस संकट ने तमाम देशों की सरकारों के सामने सबसे गम्भीर समस्या पैदा की वह था खाद्यान्न संकट। कारण यह था कि इस संकट के दुखदायी परिणामों को तुरन्त ही भुगतना पड़ा। हाइती, बुर्किना फासो, बांग्लादेश, मिस्र, कोटे डि आइवरी, कम्बोडिया, कैमरून, इथियोपिया, होण्डूरास, इण्डोनेशिया, मैडागास्कर, नाइजर, पेरू, फिलिपींस, सेनेगल, थाईलैण्ड, उज़्बेकिस्तान और ज़ाम्बिया में खाद्यान्न दंगे भड़क उठे और लोग सड़कों पर उतर आये। तमाम अन्न गोदामों को लूट लिया गया, दुकानों को उजाड़ दिया गया और जमाखोरों की सड़कों पर पिटाई भी हुई। 2 अप्रैल को विश्व बैंक के अध्यक्ष ने एक बैठक में बताया कि वैश्विक पैमाने पर कीमतों में बढ़ोत्तरी और खाद्यान्न संकट कम-से-कम 33 देशों में खतरनाक सामाजिक अशान्ति को जन्म दे सकता है। 'टाइम' पत्रिका के वरिष्ठ सम्पादक ने जो टिप्पणी की, वो भी गौरतलब है। उन्होंने चेतावनी दी : *'शीत युद्ध में पूँजीवाद की निर्णायक विजय के बाद के पूरे दौर में भुखमरी के शिकार लोगों द्वारा हताशा में सड़क पर उतर पड़ने और पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का विचार असम्भव होने की हद तक मुश्किल लगता रहा है... और फिर भी, पिछले महीने की सुर्खियाँ बताती हैं कि आसमान छूती कीमतें दुनिया भर की तमाम सरकारों की स्थिरता पर खतरा पैदा कर रही हैं... जब हालात ऐसे हो जायें कि निष्क्रिय शान्त नागरिक अपने भूखे बच्चों को न खिला पायें तो अचानक ये ही शान्तिप्रिय लोग ऐसे आन्दोलनकर्ता बन जाते हैं जिनके पास खोने के लिए कुछ भी नहीं है।'*

खाद्यान्न संकट : कारण और प्रभाव

खाद्यान्न संकट अचानक नहीं आया है। इसके कुछ लक्षण काफी पहले से ही नज़र आने लगे थे। अमेरिकी सबप्राइम संकट के बाद से सट्टेबाजी पूँजी को जिन नए विकल्पों की तलाश थी, उनमें से एक खाद्यान्न बाज़ार भी था। सबप्राइम संकट के बाद से विश्व खाद्यान्न बाज़ार में सट्टेबाजी बढ़ी और नतीजे के तौर पर

जमाखोरी भी बढ़ी। लेकिन यह कारक काफी बाद में सक्रिय होता है। खाद्यान्न संकट के बीज तो अमेरिकी सबप्राइम संकट से भी पहले पड़ चुके थे। नवउदारीकरण के पूरे दौर में तीसरी दुनिया के तमाम देशों के पूँजीपति वर्ग ने "समाजवाद" और "कल्याणकारी राज्य" का मुखौटा उतार कर फेंक दिया। जाहिर है कि भूमण्डलीकरण के दौर में सार्वजनिक क्षेत्र-कल्याणकारी-समाजवाद नामधारी पूँजीवाद पूँजी के निर्बाध प्रवाह, विस्तार, संचय और पूँजीवाद के उत्तरोत्तर विकास में एक बाधा था। पूँजी ने अपनी सहज-स्वाभाविक गति से उसे तोड़ दिया और पूँजीवाद अपने असल रूप में सामने आने लगा। इसके साथ ही, एक-एक करके वे सारे संरक्षण जो देशी कृषि को साम्राज्यवादी पूँजी के समक्ष चाहिये थे वे कम होने लगे; खेती में पूँजीवाद की घुसपैठ के उन्नत अवस्था में पहुँचने और राज्य के संरक्षण और नियंत्रण के खत्म होने के साथ ही कृषि में निर्णायक शक्ति बाज़ार की हो गयी और कृषि विश्व बाज़ार की अदृश्य-अनिश्चित ताकतों के अधीन हो गया। राज्य की भूमिका ज्यादा-से-ज्यादा एक प्रबंधक की बनते जाने का ही नतीजा था कि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था से सरकार धीरे-धीरे हाथ खींचने लगी और देश की गरीब आबादी, जिसे एक मामूली खाद्यान्न सुरक्षा हासिल थी, वह भी खत्म होने लगी और गरीब मेहनतकश वर्ग पूरी तरह बाज़ार-विनियमित कीमतों की दया पर आ गया। बाज़ार के लिए होने वाली खेती ने नकदी फसलों उत्पादन के रुझान को बढ़ावा दिया। इस रुझान की नवीनतम अभिव्यक्ति जैव-ईंधनों के उत्पादन के लिए खाद्यान्न उत्पादन की बलि चढ़ाना है। ऐसे व्यापक कारणों से ही मौजूदा खाद्यान्न संकट उत्पादन हुआ है। इस मोटी रूपरेखा को प्रस्तुत करने के बाद हम मौजूदा खाद्यान्न संकट के तात्कालिक कारणों पर चर्चा कर सकते हैं।

इससे पहले कि हम तात्कालिक कारणों पर चर्चा शुरू करें, आइये इस विकराल खाद्यान्न संकट की हद और उसके प्रभावों पर एक नज़र डालें। पिछले कुछ महीनों में खाद्यान्न की कीमतों में जिस रफ्तार से बढ़ोत्तरी हुई है उतनी पिछले तीन दशकों में कभी नहीं हुई है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार पूरे 2007 के दौरान खाद्यान्न की कीमतों में 40 प्रतिशत से भी ज्यादा की वृद्धि हुई है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि उन खाद्य पदार्थों की कीमतों में सबसे ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई है जिन पर तीसरी दुनिया की गरीब जनता की सबसे ज्यादा निर्भरता है यानी, चावल, गेहूँ और मक्का। 2007 में गेहूँ की कीमतों में 77 प्रतिशत और चावल की कीमतों में 20 प्रतिशत की और मक्के की कीमतों में 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई। गेहूँ की कीमतों में भी पहले जैसी अस्थिरता बरकरार रही है। वहीं मक्का, जो कि लातिनी अमेरिकी देशों का मुख्य आहार है, लगातार महँगा होता गया है। पिछले दो वर्षों में विश्व बाज़ार में

मक्के की कीमत दोगुनी से भी ज्यादा हो गयी है। इन मुख्य खाद्यान्नों के अतिरिक्त मांस, वनस्पति तेल आदि की कीमतों में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। जैसा कि हर संकट के मामले में होता है, शासक वर्गों ने इस संकट के कारणों को गरीब जनता पर मढ़ दिया। मसलन, जार्ज बुश और कॉण्डोलीजा राइस का यह कहना कि भारत और चीन के लोगों के ज्यादा खाने के कारण खाद्यान्न संकट पैदा हुआ है। इस बात के पीछे का हास्यास्पद तर्क यह है कि पिछले लगभग दो दशकों में इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं की विकास दर अधिक होने के कारण खाद्यान्नों की माँग उनकी आपूर्ति से बढ़ गयी है। यह बात सच है कि भारत और चीन के धनाढ्य वर्गों को पूँजीवादी विकास और वृद्धि दर का भरपूर फायदा मिला है और उनकी खाद्यान्न खपत बढ़ गयी है। लेकिन इन देशों में गरीबों के आहार में कमी आई है। सच तो यह है भारत में आहार की प्रति व्यक्ति खपत 1980 के दशक से भी कम है और चीन में आज की खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति खपत 1996 से भी कम है!

अब आइये खाद्यान्न संकट के वास्तविक कारणों पर निगाह डालें।

जो कारण सबसे तात्कालिक है, लेकिन जो स्वभाव से ही पूँजीवाद का असम्भाव्य परिणाम है, वह है विभिन्न मालों के बाज़ार में बढ़ती हुई सट्टेबाजी। कृषि-उत्पादों के बाज़ार में भी एकाधिकरण की वह प्रक्रिया लगातार जारी है जो सभी वस्तुओं के बाज़ार में पूँजीवादी व्यवस्था में चलती है। आज स्थिति यह है कि दुनिया-भर में मुड़ी भर कम्पनियों कृषि में होने वाली उत्पादन-सम्बन्धी आपूर्ति से लेकर बाज़ार में उत्पादित मालों की आपूर्ति तक की प्रक्रिया के हर पहलू को नियंत्रित करती हैं। माँग को मुनाफे के अनुसार विनियमित करके उत्पादन के पूरे ढाँचे को बदल दिया जाता है। वैश्विक कृषि उत्पाद बाज़ार में इजारेदारी के बढ़ने के कारण सट्टेबाजी में भी लगातार बढ़ोत्तरी हुई है। पच्युवर्स ट्रेड ने इस सट्टेबाजी को और बल दिया है। इसके कारण वित्तीय सट्टेबाजों को खाद्यान्न बाजारों में निवेश करने की छूट मिल गयी है और नतीजतन, खाद्यान्न बाजारों तक में हेज फण्ड और इंडेक्स फण्ड जैसी सट्टेबाज उड़नछू पूँजी की घुसपैठ हो गयी है। ऐसे निवेशक कीमतों तक पर सट्टेबाजी करते हैं जिससे वे अत्याधिक अस्थिर हो जाती है और यह सट्टेबाज पूँजी ही कालान्तर में क्या कितना पैदा हो, यह भी निर्धारित करने में दखल करने लगती है।

खाद्यान्नों के बाज़ार में सट्टेबाजी बढ़ने का एक कारण और भी है। भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद के दौर में दुनिया भर में पूँजीवादी राज्यों ने “समाजवादी” या “कल्याणकारी” मुखौटे को उतार फेंका है और पूँजी को खुली लूट की छूट देकर वे खुद उसके हितों के प्रबंधक बन बैठे हैं। ऐसे में यह लाजिमी-सी बात है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को खत्म किया जा रहा है और खाद्यान्न के केन्द्रीय भण्डार पर से सरकारी नियंत्रण कम होते जाने के कारण स्वाभाविक रूप से खाद्यान्न बाज़ारों में सट्टेबाजी बढ़ी है।

यह सट्टेबाजी जल्दी खत्म भी नहीं होने वाली। कारण यह है कि अमेरिकी सबप्राइम संकट शुरू होने के बाद से पूरा वैश्विक बाज़ार एक अभूतपूर्व उथल-पुथल का शिकार है। वित्तीय पूँजी रियल एस्टेट और स्टॉक मार्केट पर अति-निर्भरता खत्म कर निवेश के नये स्थान ढूँढ रही है। खाद्यान्न बाज़ारों के रूप में उसको एक नया विकल्प मिल गया है। खाद्यान्न बाज़ार में वित्तीय पूँजी के बड़े

पैमाने पर घुसने से सट्टेबाजी तेज़ी से बढ़ी है और अभी आगे और बढ़ेगी। सट्टेबाजी के बढ़ने के साथ ही निजी व्यापारियों और टुच्चे सट्टेबाज अतिसक्रिय हो जाते हैं। पिछले वर्ष ऐसा ही हुआ था जब खाद्यान्न उत्पादन भारत में घरेलू माँगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त था लेकिन निजी खुदरा व्यापारियों की जमाखोरी के कारण अनाज महँगा होता गया। जमाखोरी होने के पीछे सट्टेबाजी के कारण होने वाली अटकलबाजी और अफवाहों का मुख्य हाथ था।

सट्टेबाजी के बाद दूसरा बड़ा कारण था तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी। तेल की कीमतें हर ऐसी वस्तु के उत्पादन की लागत में शामिल होती हैं जिसमें ऊर्जा का उपयोग होता है या जिसे परिवहन साधनों के माध्यम से बाज़ार तक पहुँचाना होता है। कहने की जरूरत नहीं है कि कृषि उत्पाद ऐसे ही मालों की श्रेणी में आते हैं। कृषि का अधिकाधिक मशीनीकरण होने के साथ तेल की जरूरत कृषि उत्पादन में बढ़ती गयी है। हार्वेस्टर, ट्रैक्टर से लेकर श्रेणर तक को चलाने में तेल की जरूरत पड़ती है। ऊर्जा लागत में होने वाली वृद्धि सीधे-सीधे कृषि उत्पादन की लागत में स्थानान्तरित होती है। तेल की कीमतों में वृद्धि के प्रभाव को भारत सरकार तेल पर लिए जाने वाले टैक्सों में कटौती करके रोक सकती थी। इससे तेल कम्पनियों को घाटा भी नहीं होता और न ही जनता की जेब पर बोझ बढ़ता। बस सरकारी राजस्व में थोड़ी कमी आती। लेकिन सरकार ने ऐसा न करके सारा बोझ जनता पर डाल दिया।

तीसरा कारण, जो विश्व पैमाने पर खाद्यान्न संकट को बढ़ावा दे रहा है वह है जैव ईंधनों का उत्पादन। अमेरिका और यूरोप के देश और साथ ही ब्राजील जैसे कुछ देश जैव-ईंधनों को बढ़ावा दे रहे हैं और उसे पेट्रोलियम के विकल्प के तौर पर पेश कर रहे हैं। नतीजा यह हो रहा है कि अनाजों की खेती के तहत आने वाली भूमि लगातार कम हो रही है और नतीजे के तौर पर खाद्यान्न उत्पादन घट रहा है। मिसाल के तौर पर, 2006 में अमेरिका ने अपने मक्का उत्पादन का 20 प्रतिशत, ब्राजील ने अपने गन्ना उत्पादन का 50 प्रतिशत और यूरोपीय संघ ने अपने वनस्पति तेल के बीज उत्पादन का बड़ा हिस्सा इथेनॉल व अन्य प्रकार के जैव-ईंधन के उत्पादन में लगा दिया। अमेरिका ने इस मामले में अग्रणी भूमिका निभाई है। यह स्पष्ट होने के बाद कि मध्य-पूर्व के सभी तेल भण्डारों पर अमेरिका अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकता, अमेरिका ने पेट्रोलियम उत्पादों पर अपनी निर्भरता घटाने के लिए जैव-ईंधनों के उत्पादन को बढ़ावा देना शुरू कर दिया। मक्का, ज्वार की कीमतों में जैव-ईंधन के उत्पादन के कारण भारी बढ़ोत्तरी हुई। चूँकि ये पशुओं का भी प्रमुख आहार है, इसलिए मांस और दुग्ध उत्पाद भी महँगे हो गये।

पूँजीवाद की बदहवासी और अतार्किकता का आलम तो यह है कि वह यह भी नहीं देख पा रहा है कि जैव-ईंधन न तो ऊर्जा सुरक्षा दे रहा है और न वह ‘ग्लोबल वॉर्मिंग’ रफ्तार का कम कर रहा है। लेकिन सरकारी सब्सिडी के कारण निजी पूँजी जैव-ईंधनों के उत्पादन की ओर प्रवाहित हो रही है और यह खाद्यान्न उत्पादन स्वाभाविकतः कमी ला रहा है।

चौथा प्रमुख कारण है जलवायु में होने वाले अहम बदलाव। इन बदलावों के कारण हालिया फसलें खराब हुई हैं। इन बदलावों में कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में आये सूखे से लेकर अमेरिका के कई हिस्सों में भारी बारिश तक शामिल है। वैज्ञानिकों का मानना है कि मौसम के लगातार गर्म होते जाने के कारण फसलों पर कीड़े-मकोड़ों

का हमला बढ़ेगा और ग्लोबल वार्मिंग के प्रभाव के रूप में दुनिया-भर में मरुस्थलीकरण भी बढ़ेगा। चीन और भारत जैसे देशों की अधिकांश नदियाँ ग्लेशियरों द्वारा भरती हैं जो लगातार पिघल रहे हैं जिससे आने वाले समय में विकराल संकट खड़ा होने वाला है। ज्ञात हो कि भारत और चीन मिलकर विश्व के कुल चावल और गेहूँ उत्पादन का आधे से ज्यादा पैदा करते हैं।

आखिरी कारण है, एक मुनाफे की व्यवस्था में कृषि की निरन्तर उपेक्षा। इसके अतिरिक्त मौजूदा विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में और कुछ हो भी नहीं सकता है। इस उपेक्षा के कई पहलू हैं। एक अहम पहलू है कृषि-सम्बन्धी अनुसंधान में सरकारी निवेश का लगातार कम होते जाना। पूँजीवादी कृषि में किसानों का नकदी फसलों की ओर झुकाव बढ़ता जाता है। नतीजतन, खाद्यान्न उत्पादन के तहत आने वाली कृषि-योग्य भूमि में कमी आती जाती है। खेती-योग्य भूमि का अधिग्रहण करके वहाँ विशेष आर्थिक क्षेत्र, शॉपिंग मॉल आदि बनाये जा रहे हैं। कृषि को मिलने वाली सब्सिडी और सहज उपलब्ध ऋण भी अब खत्म होता जा रहा है। जयति घोष और सी.पी. चन्द्रशेखर जैसे अर्थशास्त्री और सी.पी.एम. जैसे संसदीय वामपंथी इस बात के लिए पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को दोषी ठहराने की बजाय उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों को

ही कोसते हैं। वे “कल्याणकारी” राज्य की नीतियों को नॉस्टैलिज्या के साथ याद करते हैं और उसकी लाश पर आँसू बहाते हैं। ये सभी कीन्सियाई नुस्खों के दीवाने हैं। सभी संशोधनवादियों की तरह ये संसदीय वामपंथी पूँजीवादी व्यवस्था की एक सुरक्षा-पंक्ति और इसके दूरदर्शी पहरेदार के रूप में काम करते हैं। इसीलिए ये भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया में स्पीड-ब्रेकर लगाते रहते हैं कि ‘थोड़ा धीमे चलो! वरना, तबाही की यह रफ्तार विद्रोह की तरफ ले जायेगी।’ यही इनका काम है और इसे वे पूरी चुस्ती के साथ करते हैं।

हमारा विश्लेषण साफ तौर पर बताता है कि खाद्यान्न संकट एक व्यवस्था-जनित संकट है। मुनाफे पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था इस दुनिया के लोगों को और कुछ दे भी नहीं सकती। इसका इलाज “कल्याणकारी” राज्य नहीं है। उसका युग बीत गया। इतिहास पीछे नहीं जाता। आज विश्व पूँजीवाद की मजबूरी है कि वह एक-एक करके सारे कल्याणकारी आवरण उतारकर फेंक दे। इन आवरणों का खर्च उठाने की औकात अब उसके पास नहीं रही। मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था का कोई इलाज नहीं है। हमें इसका विकल्प प्रस्तुत करना ही होगा। नहीं तो इसी तरह हज़ारों निर्दोष स्त्री-पुरुष भुखमरी और कुपोषण की भेंट चढ़ते रहेंगे।

कमरतोड़ महँगाई : पूँजीपति वर्ग द्वारा वसूला जाने वाला एक “अप्रत्यक्ष कर”

(पेज 16 से जारी)

बाजार में भूकम्प आ जाता है। भूमण्डलीकरण के दौर में यह अनिश्चितता पूँजीवादी व्यवस्था का एक नैसर्गिक तोहफा है। एक बार हम फिर जयति घोष और सी.पी.चन्द्रशेखर जैसे अर्थशास्त्रियों से अपील करेंगे कि ‘कल्याणकारी राज्य’ और ‘मुक्त व्यापार’ पूँजीवाद की लाश पर स्यापा करना बन्द कर दें! उनकी उम्र पूरी हो चुकी थी। यह साम्राज्यवाद यानी इजारेदार पूँजीवाद का उत्तरतम दौर है भूमण्डलीकरण का युग। इसके बाद पूँजीवाद ‘अंतरिक्षीकरण’ नहीं कर सकता। यही वह अंतिम सीमान्त है जहाँ तक वह पहुँच सकता था। इसलिए बेहतर है पूँजीवादी व्यवस्था की रूपरेखा से बाहर जाकर सोचें, बजाय ‘कल्याणकारी राज्य’ के प्रति नॉस्टैलिज्क होकर आँसू बहाने के!

आखिरी प्रमुख कारण है निर्यातकों की लॉबी के दबाव में आकर रुपये का सरकार द्वारा अवमूल्यन। पिछले वर्ष रुपया डॉलर के मुकाबले लगातार तगड़ा होता जा रहा था। इसके कारण विदेशी बाज़ार में भारतीय निर्यातकों को जो कमाई हो रही थी वह कम होती जा रही थी। क्योंकि वहाँ वे डॉलर में कमाते थे जो यहाँ आकर रुपये में बदलता था और अगर एक डॉलर में कम रुपये आने लगे तो वे भारत में “गरीब” होते जायेंगे। इसलिए रुपये का अवमूल्यन किया गया क्योंकि निर्यातक पूँजीपति लॉबी एक शक्तिशाली लॉबी है। गरीबों पर निर्यातकों के मुनाफे का बोझ डालते हुए रुपये का अवमूल्यन किया गया जिससे महँगाई तेजी से बढ़ी।

इन छः कारणों के स्वभाव और प्रकृति से आप स्वयं ही समझ गये होंगे कि महँगाई क्यों बढ़ी और इसके लिए कौन जिम्मेदार हैं। संसदीय वामपंथी महँगाई पर जुबानी जमाखर्च करते रहते हैं

और कल्याणकारी नीतियों की वकालत करते रहते हैं। दरअसल, उन्हें अपने आपको मार्क्सवादी की बजाय कीन्सवादी कहना चाहिये। वे इस व्यवस्था की एक सुरक्षा-पंक्ति के रूप में पूरे मन से इन कल्याणकारी नीतियों की बात करते हैं और शासक वर्ग को जनअसंतोष से आगाह करते रहते हैं और अपनी बात-बहादुरी से जनअसंतोष पर ठण्डे पानी का छिड़काव करते रहते हैं। वे उदारीकरण की अंधाधुंध गति के समक्ष ‘स्पीड-ब्रेकर’ खड़े करने का काम करते हैं। इसे रोकना या व्यवस्था बदलना उनका इरादा भी नहीं होता। वे तो बस कीन्सीयाई खड़ाऊँ पहनकर धीरे-धीरे चलने का सुझाव देते हैं ताकि अंधाधुंध पूँजी की लूट की मार के खिलाफ जनता बगावत न कर दे और पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को ही न उखाड़ फेंके। जरूरत है कि जनता क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से गद्दारी कर चुके इन रंगे सियारों को पहचाने और इन्हें किनारे लगा दे।

इस विस्तृत विश्लेषण के बाद यह बताने की जरूरत नहीं है कि महँगाई की परिघटना पूँजीवादी व्यवस्था की एक स्वाभाविक परिघटना है। पूँजीवाद ऐसा हो ही नहीं सकता जिसमें जनता को महँगाई से निजात मिल सके। एक मुनाफा-केन्द्रित व्यवस्था हमें यही दे सकती है। इससे निजात सिर्फ एक ऐसी व्यवस्था में ही मिल सकता है जो निजी मालिकाने के आधार पर मुनाफे की अंधी हवस पर न टिकी हो, जो सामाजिक जरूरतों के मुताबिक उत्पादन करती हो, जो सभी प्रकार के संसाधनों के साझे मालिकाने पर आधारित हो और जो योजनाबद्ध ढंग से काम करती हो, न कि अराजक ढंग से। संक्षेप में, महँगाई से मुक्ति एक ऐसी व्यवस्था में ही मिल सकती है जिसमें उत्पादन राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक हो और फैसला लेने की ताकत उनके हाथों में हो।

‘लालच जिन्दाबाद! इंक.’ का नया शाहकार!!!

महामंदी - II

निर्देशक : अमेरिकी अर्थव्यवस्था
निर्माता : विश्व पूँजीवाद

● अभिनव

एक बार पुलित्जर पुरस्कार विजेता रॉबर्ट पेन वॉरेन ने कहा था, “अतीत हमेशा वर्तमान को एक झिड़की होता है।” आह्वान के पिछले अंक में अमेरिकी सबप्राइम संकट के बारे में लिखते हुए हमने कहा था कि यह छोटे चक्रीय क्रम में आने वाला कोई छोटा संकट नहीं है बल्कि अंतिम मर्ज से ग्रस्त पूँजीवाद का एक महासंकट है जो आठ दशक के लम्बे चक्र के बाद दोबारा आया है। यह निश्चित तौर पर एक बहस का मुद्दा हो सकता है कि यह साम्राज्यवाद का आखिरी संकट है या नहीं। बहुत से प्रेक्षक कहेंगे कि इस संकट से देर-सबेर विश्व पूँजीवाद उबर जाएगा। लेकिन अन्तर्दृष्टि रखने वाले सभी अर्थशास्त्री और राजनीतिक टिप्पणीकार स्पष्ट रूप से बता रहे हैं कि जिन नुस्खों से विश्व पूँजीवाद मौजूदा संकट से उबर सकता है वे इससे भी भयंकर मन्दी को कुछ समय बाद प्रस्तुत कर देंगे। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 8 अक्टूबर को दिये गये अपने आधिकारिक बयान में कहा है कि विश्व अर्थव्यवस्था एक पूर्णरूपेण आर्थिक महामन्दी की ओर बढ़ रही है। 8 अक्टूबर के दिन ही दुनिया की चार महत्वपूर्ण आर्थिक शक्तियों ने इस महामन्दी के प्रभाव को कुछ समय के लिए टालने की खातिर कुछ कदम उठाये। अमेरिका, चीन, ब्रिटेन और यूरोपीय संघ के केन्द्रीय बैंकों ने ऋण दरों को गिरा दिया और कुछ देशों में सरकारों ने ऋणों और बैंकों की देनदारियों का बीमा कर दिया है। ऐसा दो कारणों से किया गया है; पहला, बाज़ार में जारी गिरावट को थामा जा सके; दूसरा, लोगों के बीच भय न फैले। लेकिन इन देशों की सरकारें अच्छी तरह जानती हैं कि ऐसा करके वे संकट को कुछ समय के लिए हल्का महसूस करा सकते हैं। इससे संकट वास्तव में कम नहीं होने वाला। बल्कि इससे संकट और भयंकर तरीके से बढ़ सकता है।

हालाँकि हमने पिछले अंक में बताया था कि पूरी विश्व अर्थव्यवस्था डॉट कॉम क्रैश, स्टॉक मार्केट संकट और सबप्राइम संकट से होते हुए किस तरह इस वैश्विक वित्तीय संकट तक पहुँची है, लेकिन हम एक बार फिर पाठकों को इस पूरी प्रक्रिया से अवगत कराना चाहेंगे।

आज हम जो परिघटना देख रहे हैं वह दरअसल एक

सट्टेबाज़ी से पैदा हुए वित्तीय बुलबुले का फूटना है। यह बुलबुला बना था अमेरिकी आवास बाज़ार में। कहानी को शुरुआत से शुरू करने की बजाय हम आवासीय बाज़ार से ही शुरू करेंगे। अमेरिका में यह मान्यता रही है कि आवास बाज़ार में कभी मन्दी नहीं आ सकती क्योंकि घर का स्वामी होना हर अमेरिकी नागरिक के सबसे प्यार से पाले गये सपनों में से एक होता है। इसलिए यह माना जाता है कि घरों की कीमत अमेरिका में कभी घट नहीं सकती है। इसलिए आवास ऋणों का बाज़ार अमेरिका में काफी गर्म रहता है। यह गर्मी खास तौर पर डॉट कॉम और शेयर बाज़ार बुलबुले के फूटने के बाद और बढ़ी। कारण यह था कि इन संकटों के बाद वित्तीय बाज़ार में जो मन्दी आई उससे निपटने के लिए अमेरिकी केन्द्रीय बैंक ने ऋण दरों को बेहद घटा दिया और बाज़ार में तरलता को इंजेक्ट किया। नतीजा यह था कि तमाम ऋण बैंकों ने बड़े पैमाने पर आवास ऋण देना शुरू किया। आवास ऋणों की माँग एकदम आसमान छूने लगी। यह पूरा काम किस तरह होता था, इस पर निगाह डालकर ही मौजूदा संकट की आंतरिक संरचना को समझा जा सकता है।

दुनिया भर के निवेश बैंक अमेरिकी बैंकों से आवास ऋणों को खरीदते हैं। इसके बाद वे इसे सी.डी.ओ. (कोलैटरल डेट ऑब्लिगेशन) पैकेजों में तोड़ देते हैं। इसका अर्थ होता है उन आवास ऋणों को खरीदना जिन्हें बैंक पहले ही ग्राहकों को जारी कर चुके होते हैं। इसके बाद उन्हें छोटे-छोटे वित्तीय पैकेजों में तोड़ा जाता है और फिर ब्याज दरों, ऋण काल आदि के आधार पर विभिन्न नामों से दुनिया भर के निवेशकों को बेचा जाता है। ये नाम कुछ ऐसे होते हैं “हाई ग्रेड स्ट्रक्चर्ड एनहैंस्ड लीवरेज फण्ड”!! ये काफी कुछ म्यूचुअल फण्ड्स जैसे ही होते हैं। जब कोई निवेशक सी.डी.ओ. खरीदता है तो उसे उस ऋण पर आने वाले ब्याज का लाभांश प्राप्त होता है। यहीं से आवासीय बाज़ार पूरे वित्तीय बाज़ार से जुड़ जाता है। केन्द्रीय बैंक निवेश बैंकों को ये ऋण इसलिए बेचते हैं क्योंकि निवेश बैंक उनको एकमुश्त विशालकाय पेशगी देते हैं और फिर ब्याज का एक हिस्सा भी उन्हें रखने देते हैं। एकमुश्त भुगतान केन्द्रीय बैंकों को ऋण देने-लेने

में और ज़्यादा सक्षम बना देता है क्योंकि यह उनके पास उपलब्ध तरलता को बढ़ा देता है। नहीं तो आवास ऋण का वापस भुगतान होने में 20 से 30 वर्ष का समय तक लग जाता है। इन सी.डी.ओ. पैकेजों में दुनिया भर के धनलोलुप सट्टेबाजों से लेकर लोभी बैंकर व लालची दलाल निवेश करते हैं और इसके जोखिम को वे अपने से नीचे छोटे निवेशकों में बाँट देते हैं। नतीजा यह होता है कि भारत के छोटे से सरकारी कर्मचारी से लेकर लीमैन जैसे विशालकाय निवेश बैंक एक कमज़ोर-जर्जर वित्तीय जाले का एक अंग बन जाते हैं। अगर एक जगह से जाला टूटता है तो सभी धड़ाम-धड़ाम गिरना शुरू हो जाते हैं। आवास बाज़ार को वित्तीय निवेशक बैंकों ने इसलिए चुना क्योंकि यहाँ जैसी ब्याज़ दर उन्हें और किसी भी बाज़ार में नहीं मिल सकती है। डॉट कॉम बुलबुले के फूटने के बाद शेयर बाज़ार उतना ललचा देने वाला निवेश विकल्प नहीं रह गया था।

बैंक आवास बाज़ार को एकदम सुरक्षित मानते थे। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। नतीजतन, बैंकर यह मानकर चलते थे कि 2-3 प्रतिशत से ज़्यादा ग्राहक ऐसे नहीं होंगे जो ऋण के ब्याज़ का भुगतान न कर सकें। इसके अतिरिक्त, भुगतान में असफलता से निपटने के लिए निवेश बैंकों ने इस ऋणों का बीमा ए.आई.जी. नामक बीमा कम्पनी से करवा लिया। बीमा कम्पनी ने भी आवास बाज़ार में अत्यधिक विश्वास दिखलाते हुए इन ऋणों का बीमा कर दिया। लेकिन 2005 के अन्त में यह विश्वास खोखला साबित होना शुरू हो गया।

जैसे-जैसे सी.डी.ओ. पैकेजों की माँग वित्तीय बाज़ारों में तेज़ी से बढ़ने लगी, वैसे ही विशाल निवेश बैंकों, जैसे लीमैन, ने स्वयं अपनी पूँजी इसमें निवेश करनी शुरू कर दी। इससे एक हाउसिंग बूम पैदा हुआ। यह पूरा बूम इस आवास बाज़ार में मौजूद स्थायी तेज़ी की धारणा पर आधारित था। इस बूम का फल चखने के लिए टटपूँजिया निवेशकों से लेकर विशाल बैंकों तक सभी इसमें निवेश करने लगे। इसके कारण दलाली के बदले में केन्द्रीय बैंकों ने और अधिक आवास ऋण देना शुरू कर दिया। इन ऋणों को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए बैंकों ने धीरे-धीरे ऋण देने के मानकों को ढीला करना शुरू कर दिया। यह वित्तीय बाज़ार में “अति-उत्पादन” के संकट से निपटने के लिए उठाया जाने वाला कदम था। वित्तीय संस्थानों को निवेश के लिए नये अवसर और स्थान चाहिए थे और उन स्थानों पर निवेशकों को लुभाने के लिए नये हथकण्डे भी अपनाये ही जाने थे। नतीजतन, सबप्राइम लेंडिंग की शुरुआत हुई जिसमें किसी व्यक्ति के ऋण इतिहास पर ध्यान दिये बगैर ऋण देने की शुरुआत की गई। ऋण के भुगतान की असफलता से निपटने के लिए एडजस्टेबल (परिवर्तनीय) ब्याज़ दरों के सिद्धान्त को लागू किया गया। यानी, कुछ ही किशतों में ऋण के बराबर ब्याज़ वसूल लेने का हथकण्डा। इसके पीछे यह मान्यता काम कर रही थी कि कोई भी ऋण लेने वाला पहली कुछ किशतें तो देगा ही, उसके बाद ही वह डिफॉल्टर बनेगा। नतीजतन, लोगों ने घर खरीदने के लिए बड़े पैमाने पर ऋण लेना शुरू किया और इससे घरों की माँग बढ़ी, उनकी कीमतें भी बढ़ीं और फिर ऋण की माँग और अधिक बढ़ी; इससे घरों की माँग फिर से और अधिक बढ़ी,

फिर ऋण की माँग भी बढ़ी...और नतीजा था, एक विशालकाय वित्तीय बुलबुला। लोगों ने आवास को एक निवेश के रूप में देखना शुरू कर दिया जिसने इस बुलबुले को अन्तिम हदों तक फुला दिया।

2006 के अन्त में इन ऋणदाताओं ने एक ऐसी परिघटना देखनी शुरू की जो उनकी कल्पना से परे थी। लोगों ने ऋण लेकर घरों को खरीदा और पहले ही भुगतान में उन्होंने ऋण वापस करने में अपनी अक्षमता जता दी। 2004 से 2006 के बीच ब्याज़ दरें बढ़ती गई थीं जिसके कारण परिवर्तनीय दर वाले ऋणों की किशत भरना ऋण प्राप्तकर्ताओं के बहुत बड़े हिस्से के लिए असम्भव हो गया। परिणामतः, फोरक्लोज़र्स, यानी कि ऋण वापस न मिलने की सूरत में नीलामी शुरू हो गयी। लेकिन इसके साथ ही आवास बाज़ार में कीमतों में गिरावट शुरू हो गयी और घर खरीदने या उसमें निवेश करने में लोगों की दिलचस्पी तेज़ी से घटी। यानी, अब नीलाम होने वाले घरों को खरीदने वाले लोग भी बेहद कम हो गये। लिहाज़ा, करोड़ों-अरबों डॉलरों का डिफॉल्ट्स के कारण डूबना शुरू हुआ। एक बार आवास बाज़ार में कीमतों के नीचे होना शुरू होने के साथ ही एक उल्टा नीचे की ओर जाने वाला ‘चेन रिएक्शन’ शुरू हो गया। ज़्यादा से ज़्यादा घर बाज़ार में बिकने के लिए बिछ गये लेकिन खरीदार कोई नहीं था! वॉल स्ट्रीट की कम्पनियाँ जो इन आवासीय ऋणों को खरीदकर सी.डी.ओ. पैकेजों में तोड़कर दुनिया भर में बेचकर मुनाफ़ा कमा रही थीं, उन्होंने आवासीय ऋणों को निवेश बैंकों आदि से खरीदना बन्द कर दिया। नतीजतन, तमाम निवेश बैंक तबाह होने लगे। इन ऋणों का बीमा करने वाली कम्पनी ए.आई.जी. ने कभी नहीं सोचा था कि इतने सारे डिफॉल्ट्स होंगे। इतनी बड़ी संख्या में होने वाले दावों को वह पूरा नहीं कर सकती थी। सबसे मज़ेदार बात यह थी कि इन बीमा करारों को भी तोड़कर दुनिया भर में बेच दिया गया था जिससे यह पता कर पाना बरबाद होने वाले निवेशकों को मुआवज़ा देने के लिए ज़िम्मेदार कौन है?

आवासीय ऋणों की नींव पर बना यह वैश्विक बुलबुला अब छोटे-छोटे विस्फोटों के साथ फूटना शुरू हो गया है। नतीजे के तौर पर हम पिछले कुछ महीने में दीवालिया हुए वैश्विक वित्तीय बैंकों पर एक निगाह डाल सकते हैं। अभी हाल ही में बरबाद हुए विशालकाय बैंक लीमैन की भारतीय शाखा खरीदे जाने के लिए बाज़ार में उपलब्ध है जिसमें करीब एक हज़ार लोग काम करते हैं। भारतीय शेयर बाज़ार इस उथल-पुथल से यह लेख लिखे जाने तक 11,000 के आँकड़े पर आ चुका था। गौरतलब है कि अभी साल भर पहले ही उसके 20,000 के आँकड़े को पार करने पर सारे तेजड़िये पागलों की तरह उन्माद में दलाल स्ट्रीट की सड़कों पर नाच रहे थे। इसका कारण यह है कि वॉल स्ट्रीट के बड़े खिलाड़ियों ने भारत में अपने निवेशों की बिकवाली शुरू कर दी है ताकि मॉर्टगेज बाज़ार में होने वाले अपने नुकसानों की भरपाई कर पाएं। दुनिया भर में हेज फण्ड्स, पेंशन फण्ड्स और बीमा कम्पनियों ने अपने निवेशकों के करोड़ों डॉलर इस संकट में गवाँ दिये हैं। भारत के नवधनाढ्यों के लड़के-लड़कियों को भी इस संकट की गर्मी से पसीना आना शुरू हो गया है, जो प्रबन्धन

(पेज 29 पर जारी)

अमेरिकी संकट से भारतीय आई.टी. सेक्टर बढहाल

● शिवाथ

हमने पिछले अंक में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उपलब्ध रोजगार के अवसरों और इसको लेकर की जाने वाली 'नॉलेज इकॉनमी बूम' नामक परिघटना की सही तस्वीर पेश करने की कोशिश की थी। पिछले 3-4 महीनों में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कार्यरत कम्पनियों में काफी उथल-पुथल का दौर रहा, जिसने इस क्षेत्र के कई नए पहलू उजागर किये हैं। आइए, नज़र डालते हैं कुछ आँकड़ों पर

(1) टाटा कन्सेलटेंसी सर्विसेज़ निजी क्षेत्र में देश का सबसे बड़ा रोजगार उपलब्धकर्ता है। इसने 500 लोगों को नौकरी से निकाला।

(2) आई.बी.एम. ने, जो कि एक और बड़ी आई.टी. कम्पनी है, 700 लोगों को नौकरी से हटाया।

इसके पीछे ने इन दोनों ही कम्पनियों ने यही तर्क दिया कि यहाँ कोई छँटनी नहीं है, बल्कि कर्मचारियों के प्रदर्शन के आधार पर लिए गए फैसले हैं। ये और बात है कि 5-6 सालों में शायद पहली बार इन कम्पनियों को प्रदर्शन की याद आई है, क्योंकि इतनी बड़ी मात्रा में छँटनी इस दौरान नहीं हुई थी।

अगर अर्थशास्त्रियों की मानें तो इस छँटनी के तार जुड़े हुए हैं अमेरिकी वित्तीय बाजार में हाल ही में आये सबप्राइम संकट से। पिछले अंक में हमने इसकी भी विस्तृत चर्चा की थी, और इस निष्कर्ष तक पहुँचे थे कि ये संकट सिर्फ अमेरिकी अर्थव्यवस्था को नहीं प्रभावित करेगा, बल्कि भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व की सभी बड़ी अर्थव्यवस्थाएँ इससे प्रभावित होंगी। इस संकट के आने के बाद ही शेयर मार्केटों में जहाँ ज़बरदस्त गिरावट दर्ज की गई, वहीं खाद्यान्न संकट, पेट्रोलियम संकट जैसे संकटों ने दुनिया भर की सभी अर्थव्यवस्थाओं को हिलाकर रख दिया। विस्तार में न जाते हुए हम वापस लौटते हैं अपने मूल विषय पर यानी कि किस प्रकार सबप्राइम संकट ने आई. टी. कम्पनियों को प्रभावित किया।

भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग का आधार वित्तीय सेवाएँ जैसे कि बैंकिंग, बीमा इत्यादि है। अमेरिका, यूरोपीय संघ, जैसी अर्थव्यवस्थाओं का 80 फीसदी हिस्सा वित्तीय सेवाओं पर आधारित है। वे इन सेवाओं सम्बन्धी कार्यभारों को पूरा करने के लिए दुनिया भर में सस्ते श्रम की तलाश में घूमती हैं। अपने मुनाफे को अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए, वे दुनिया के बड़े ठेकेदारों को इसकी जिम्मेदारी देते हैं। ऐसे में उनके लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि खुद उनके देश में बेरोज़गारों की भीड़ तैयार होती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया को नाम दिया जाता है human capital managment का। इस तरह के ठेका लेने वाली तीसरी दुनिया के देशों की बड़ी कम्पनियाँ होती हैं। चूँकि यहाँ पर बेरोज़गारों की फौज इतनी बड़ी होती है, इसीलिए सस्ते दरों पर 12-14 घण्टे

खटने वाले लोग इन्हें आसानी से मिल जाते हैं। टाटा ऐसा ही एक ठेकेदार है जो टाटा कन्सेलटेंसी सर्विसेज़ के अंतर्गत ये ठेका लेता है। इन्फोसिस इत्यादि भी इसी श्रेणी में आती है।

नासकॉम के अनुसार भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग का 61.4 फीसदी हिस्सा अमेरिकी वित्तीय बाजार की सेवाओं पर आश्रित है, 17.8 फीसदी, इंग्लैण्ड पर और 12 प्रतिशत यूरोपीय संघ पर। प्रत्यक्षतः, भारतीय आई.टी. सेक्टर का 2/3 हिस्सा अमेरिकी वित्तीय बाजारों से सम्बद्ध है। सबप्राइम संकट के आने के बाद ही अमेरिकी वित्तीय बाजार में उथल-पुथल मच गयी। वहाँ के कई बड़े बैंक धराशायी हो गये। ऐसे में आनन-फानन में ही उन्हें भारतीय कम्पनियों को दिये गये ठेके वापस लेने के मजबूर होना पड़ा। जैसे ही उनका ठेका हाथ से निकाला, भारतीय कम्पनियों ने इसका ठीकरा फोड़ा अपने कर्मचारियों पर। बहुत भारी स्तर पर टी.सी. एस. से लेकर सत्यम कम्प्यूटर तक में छँटनी की गई। कर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतनमान में भी कटौती की गयी। स्पष्ट है कि आज विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आने वाले किसी भी हिचकोले से भारतीय बाज़ार और उद्योग का कोई भी हिस्सा अनछुआ नहीं रह सकता, आई.टी. सेक्टर की तो बात ही क्या है। ऐसे में तमाम बाज़ारू-अखबारी टीकाकारों को सूचना प्रौद्योगिकी 'बूम' पर ताता-धैया करना बन्द कर देना चाहिए और उसकी अर्थी पर स्यापा करने के लिए रुदालियों का काम सीख लेना चाहिए! यही काम पूँजीवाद की 'अन्तिम विजय' पर बुश-ब्राउन के दरबार में प्रशस्ति-गान गाने वाले चारण और भाटों को भी सीख लेना चाहिए!

तीन पदक और सवा अरब जनसंख्या

● विवेक

कैसे अपवाद को नियम बनाया जाये और उसका गुण गाया जाये, हमारे देश के नेताओं और मीडिया को यह काम बहुत अच्छे से आता है। अभी बीजिंग ओलम्पिक में भारत ने तीन पदक जीते। अभिनव बिन्द्रा ने निशानेबाजी में स्वर्ण, विजेन्द्र ने मुक्केबाजी में कांस्य और सुशील कुमार ने कुश्ती में कांस्य जीता। इसे लेकर तमाम नेताओं और मीडिया में खेल-प्रेम उमड़ आया और कई पुरस्कारों की घोषणा हुई और अगले ओलम्पिक के लिए बड़ी-बड़ी बातें हुई।

यहाँ हमारा सवाल इन पदकों और पुरस्कारों पर नहीं है बल्कि इस पर है कि इसी को नियम बताया जा रहा है कि सिर्फ दृढ़ इच्छाशक्ति से ही पदक जीता जा सकता है। लेकिन इस पर बात नहीं हो रही कि ये खेल-प्रेम तब कहाँ चला गया जब बिना अच्छी सुविधा के कई खिलाड़ी ओलम्पिक की तैयारी में लगे हुए थे। प्रायः सभी खेल-प्रेमी और नौजवान जानते हैं कि यहाँ खेलों में ऊपर से नीचे तक बेइमानी, भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद और नौकरशाही व्याप्त है। भारत में ओलम्पिक बजट पर लगभग 250 करोड़ रुपये खर्च हो पाते हैं और इनमें से एक बड़ा हिस्सा अधिकारियों के भत्तों में खर्च हो जाता है। इस भ्रष्ट प्रशासन का सबसे बड़ा उदाहरण भारोत्तोलक मोनिका देवी के मामले में देखने को मिला।

जिस दिन मोनिका देवी को बीजिंग जाना था उसी दिन उन्हें डोपिंग के आरोप में फँसा कर रोक लिया। जबकि पिछले दो महीने में चार डोप परिक्षण में वह सफल रही थी। दरअसल यह चाल थी भारतीय खेल प्राधिकरण के एक अधिकारी आर.के.नायडू की जिन्होंने एक दूसरी खिलाड़ी को आगे करने के मकसद से मोनिका के करियर के साथ खिलवाड़ किया। लेकिन मणिपुर के इस जुझारू खिलाड़ी ने ओलम्पिक संघ को बेपर्दा करते हुए यह लड़ाई जीत ली। यह हकीकत है खेल से जुड़ी तमाम संस्थाओं की। ऐसे में जब विजेन्द्र और सुशील जैसे खिलाड़ी निम्न सुविधाओं में अपने जीवट और हौसले व मेहनत के दम पर पदक जीत लेते हैं तो इस जीवटता का उदाहरण पेश किया जाता है और गुणगान गाया जाता है, मतलब “देखो बच्चो! अगर अपने दम पर पदक ला सकते हो तो ठीक वरना सुविधा के नाम पर तो तुम्हें झुनझुना ही मिलेगा।” और अगर अभिनव बिन्द्रा ने निशानेबाजी में स्वर्ण पदक हासिल किया तो इसकी तैयारी के लिए उन्हें 10 करोड़ रुपये से ज्यादा खर्च करने पड़े। आखिर कितने नौजवान होंगे जिनके अमीर माँ-बाप उन्हें खिलाड़ी बनाना चाहेंगे, उनपर करोड़ों खर्च करेंगे, उन्हें कमाण्डो ट्रेनिंग दिलायेंगे? शायद बहुत कम।

ये सारी सच्चाई हर खेल-प्रेमी युवा और शिक्षित वर्ग का व्यक्ति जानता है। लेकिन एक सच्चाई और है जो इस दुर्दशा का मुख्य कारण है। उसकी कभी चर्चा नहीं होती और उसे हमेशा छिपाया जाता है। भारत दुनिया के निर्धनतम देशों में से एक है। अगर आज बहुत छोटे देश भी पदक तालिका में भारत से ऊपर हैं तो इसका कारण है कि भारत के मुकाबले वहाँ का जीवन स्तर ऊँचा है जबकि इस देश में लगभग 84 करोड़ आबादी 20 रुपये दैनिक आय पर गुज़ारा करती है। शिक्षा, चिकित्सा जैसी बुनियादी जरूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, खेल में रुचि लेना तो दूर की बात है। और अगर इसके बावजूद भी कोई प्रतिभावान नौजवान खेल में रुचि लेता है तो उसे पर्याप्त अवसर और सुविधाएँ ही नहीं मिलते।

दूसरी ओर वह वर्ग है जिसके बच्चों के पास अच्छा स्कूल, अच्छा मैदान, कोच और अन्य सारी सुविधाएँ हैं। इनको अलग से ट्रेनिंग दिलाई जाती है जिस पर लाखों-करोड़ों खर्च किया जाता है। लेकिन क्या सिर्फ पैसों के बल पर ही प्रतिभा का मूल्यांकन हो सकता है? जाहिरा तौर पर नहीं। वैसे भी अमीरों के लड़कों के लिए मौजमस्ती, नाइट पार्टी, तेज ड्राइविंग ही ज़िन्दगी है और अगर इनमें से कुछ नौजवान खेल में ध्यान भी देते हैं तो वे निशानेबाजी, टेनिस जैसे अभिजात खेल ही चुनते हैं।

ऐसे में मध्य वर्ग के नौजवान जो खेल में भाग लेते हैं, उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो खेल कोटे के नाम पर कोई सरकारी नौकरी मिल जाने की आस लगाये बैठे होते हैं और कुछ खेल को आदर्श मानते हुए भाग लेते हैं। ऐसे में अगर वे कोई राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उपाधि पाते हैं तो इसमें असली योगदान उनके जीवट हौसले, मेहनत और प्रतिभा का होता है जिसके दम पर वे तमाम अभाव और बाधाओं को पार कर जाते हैं। लेकिन जाहिर है कि इसमें संयोग की बड़ी भूमिका होती है और ऐसे खिलाड़ी अपवाद ही होते हैं जिन्हें मीडिया और व्यवस्था खूब प्रचारित करती है।

ऐसे में आश्चर्य की बात नहीं कि ओलम्पिक में भारत कि दुर्दशा हो। ऐसे में किया क्या जाये? ओलम्पिक कांस्य पदक विजेता सुशील कुमार ने कहा “सुविधाओं का अभाव भारत और

दूसरे देश के खिलाड़ियों में बहुत बड़ा अन्तर पैदा करता है। कई बार चंद पैसों कि खातिर दंगल में उतरता रहा हूँ”। इसलिए ज्यादातर खिलाड़ी आज स्पॉन्सरशिप के पीछे भाग रहे हैं। जो जितना ज्यादा सफल उस पर विज्ञापन के अनुबंध कि बौछार भी उतनी ज्यादा। कुल मिलाकर खिलाड़ी को एक चलता-फिरता विज्ञापन बना दिया जाता है। लेकिन क्या सिर्फ कुछ खेलों और खिलाड़ियों को कॉरपोरेट घराने के प्रायोजक मिलने से यह समस्या हल हो सकती है? हर्गिज़ नहीं।

इस समाज में जहाँ खेल को हेय दृष्टि से देखा जाता है। खासकर लड़कियों को तमाम परेशानियों का सामना करना पड़ता है। उनके लिए कदम-कदम पर रुढ़ियाँ-वर्जनाओं-लाक्षणाओं-उपेक्षाओं और पितृसत्तात्मक ढाँचे कि अनगिनत बाधाएँ होती हैं। एक ऐसे देश में खेलों में दुर्दशा बनी रहेगी क्योंकि जब तक यह समाज जड़ता से ग्रस्त, अंधविश्वास और कूपमण्डूक रहेगा तमाम खेल प्रेमी इस पर आंसू बहाते रहेंगे।

इसका एकमात्र विकल्प है समाज कि गतिशीलता बढ़े, आम आदमी को शिक्षा, दवा-इलाज और जीवन की सभी आधुनिक सुविधाएँ मुहैया हो, समाज कि सम्पन्नता बढ़े, सभी को खेल-कूद कि आधुनिक सुविधाएँ, तकनीक और हुनर हासिल हो। खेल ज़िन्दगी का हिस्सा बन सके ताकि नौजवानों का बड़ा हिस्सा बिना चिन्ता के इसमें भाग ले सके। तभी ये समस्याएँ दूर होंगी।

न्यायालय का शोकगीत और

हम

● योगेश

हमारे देश की संसद में बैठने वाले पक्ष-विपक्ष और इनकी गठबंधन सरकारें जो लूट और भ्रष्टाचार के कीर्तिमान बना रही है, उससे लगातार आम जनता उन पर से विश्वास खो रही है। इस खेल में देश की नौकरशाही भी इन पार्टियाँ का पूरा साथ निभा रही है। विधायिका और कार्यपालिका के इस क्षरण के बाद देश के लोगों का थोड़ा बहुत विश्वास न्यायपालिका पर था। पर हालिया कुछ मामलों और सर्वोच्च न्यायलय की एक टिप्पणी से यह भरोसा और कम हुआ है। सर्वोच्च न्यायालय ने तथाकथित जनप्रतिनिधियों के एक मामले में कहा कि ‘इस देश को तो भगवान भी नहीं बचा सकते हैं।’ कारण था पूर्व सांसदों और विधायकों द्वारा सरकारी आवास पर कब्ज़ा जमाए रखना और वर्तमान लोकसभा के आधे व राज्यसभा के बहतर सदस्यों पर बिजली-पानी-टेलीफोन का लगभग सवा करोड़ रुपए बकाया है।

एक याचिका पर सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायलय ने सरकार को सुझाव दिया कि धारा 441 में संशोधन कर सरकारी मकानों पर अवैध-कब्ज़े को गैर-जमानती अपराध की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। इस पर सरकार ने दो टूक जवाब दिया कि जनप्रतिनिधियों के खिलाफ ऐसा कोई कानून नहीं बनाया जाएगा। उसकी दलील पर हमारी न्यायालय ने आह-भरी टिप्पणी की और पूरे मामले पर रोक लगा दी। और अब तो स्वयं ‘न्याय’ करने वाले न्यायधीश भी घूस-रिश्वतघोरी में एक-दूसरे को पछाड़ रहे हैं। अभी

कोलकाता हाईकोर्ट के एक न्यायधीश के रिश्त के मामले में पाए जाने के कारण महाभियोग चलाने का प्रस्ताव आया। इससे पहले भी एक न्यायधीश वाई.के.सभरवाल पर आरोप था कि उनके दिए फैसलों से उनके बेटों को आर्थिक लाभ पहुँचा है। स्पष्ट है कि जो ढाँचा बहुसंख्यक आम आबादी की लूट पर टिका होगा उस पूँजीवादी समाज में न्यायपालिका कोई दैवीय संस्था नहीं है बल्कि वह इसी ढाँचे की सेवा ही करेगी और जब कभी “जनतंत्र” के नाम पर स्यापा होता है तो इसी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कुछ शिकायतें हो जाती हैं। इसी पूँजीवादी समाज पर लोगों का विश्वास बना रहे इसके लिए न्यायपालिका राज करने वाले धनिक वर्ग के लोगों में से भी कुछ को सज़ा सुना देती है। पर ऐसे मामले गिनती के होते हैं जबकि हज़ारों-लाखों ऐसे मामले होते हैं जिनमें ग़रीब आदमी को ही दोषी ठहराया जाता है। ‘इस देश को भगवान भी नहीं बचा सकते’ जैसी टिप्पणी से न्यायपालिका यह भी जताना चाहती है कि जर्जर होती इस व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। यानी इस आदमखोर पूँजीवादी समाज में लुटते हुए जीना पड़ेगा। पर ढाँचे के पैरोकार और बुद्धिजीवी ‘इतिहास के अन्त’ और पूँजीवाद को मानव-विकास की अन्तिम मंजिल बताने का कितना भी राग अलापते रहें, तमाम बहादुर, संवेदनशील और इंसाफपसन्द नौजवान इस पर यकीन नहीं करेंगे। वे न्यायपालिका को दिखला देंगे कि वाकई भगवान इस देश का कुछ नहीं कर सकता है। अगर कोई कर सकता है तो वे इस देश के आम नौजवान और मेहनतकश हैं।

बजरंग दल : हिन्दु आतंकवाद

● दीपक

पिछले कुछ दशकों से धर्म और हिन्दू राष्ट्र की दुहाई देने वाले तमाम कट्टरपंथी हिन्दुवादी संगठनों का आतंकवादी चेहरा आम जनता के सामने आईने की तरह साफ हो गया है, और साथ ही हिटलर-मुसोलीनी की इन जारज़ औलादों की ‘असली राष्ट्रभक्ति’ को भी लोग अच्छी तरह समझने लगे हैं।

24 अगस्त को कानपुर में बजरंग दल के दो कार्यकर्ता राजीव मिश्र और भूपेन्द्र सिंह टाइम बम बनाते समय भीषण विस्फोट में मारे गये। घटना स्थल पर पहुँची पुलिस और पूरे देश के खुफिया तंत्र को मौके से जो साज़ो-सामान (देशी हैडग्रेनेड, टाइमर डिवाइस, घड़ियाँ और बारूद, इलाके का नक्शा) बजरंगदलियों के पास मिले उससे वे भौंचक्के रह गये। एक पुलिस अधिकारी के अनुसार कानपुर बम विस्फोट में जितनी विस्फोट सामग्री पायी गयी है, वह आधे कानपुर को तबाह कर सकती है।

और यह कोई पहली घटना नहीं है, जिससे इन हिन्दु कट्टरपंथियों के अलगाववादी आतंकवादी चेहरे बेनकाब हुए हैं। पहली बार जून 2006 में महाराष्ट्र के नान्देड़ की घटना कुछ ऐसी ही थी जब सिंचाई विभाग के रिटायर्ड कर्मचारी, जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से सम्बद्ध थे, लक्ष्मण राजकोंडवार के यहाँ हुए बम विस्फोट में उनका बेटा नरेश और बजरंग दल का स्थानीय नेता हिमांशु वेंकटेश मारा गया था। तब भी पुलिस को इलाके की मस्जिदों के नक्शे तथा क्षेत्र के मुसलमानों द्वारा पहने जाने वाले परिधान तथा नकली दाढ़ी आदि सामान मिला था। इसके बाद सितम्बर 2006 को मुम्बई के मालेगाँव में हिन्दुत्व के आतंकवाद

का मुद्दा ज़ोरदार तरीके से बहस के केन्द्र में आया था। फिर फरवरी 2007 में नान्देड़ के शास्त्री नगर इलाके में एक दूसरा विस्फोट हुआ था। इसमें भी हिन्दुवादी संगठनों के दो लोग मारे गये थे।

प्रारम्भिक जाँच के अनुसार उ.प्र. के कानपुर, महाराष्ट्र के नान्देड़ और 2001 में औरंगाबाद के गणेश मन्दिर के पास हुए बम विस्फोटों में अन्तर्सम्बन्ध दिखायी देता है। सभी जगहों के विस्फोटों में पाइप बम पाये गये हैं। साथ ही जाँच के बाद यह भी पता चला कि अप्रैल 2006 में दिल्ली की जामा मस्जिद और अक्टूबर 2007 में अजमेर शरीफ दरगाह में धमाके सहित कुछ धमाके सिमी व अन्य आतंकी गुटों से जुड़े धमाकों से अलग नज़र आते हैं।

इससे आसानी से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि देश के अन्दर होने वाली इन आतंकवादी घटनाओं के पीछे किन आतंकवादी संगठनों का हाथ था और निश्चित तौर पर अब भी हम लोगों का यह सोचना बेहद मासूमियत भरा होगा कि ये आतंकवादी कारवाइयाँ हमेशा मुस्लिम कट्टरपंथी संगठनों के हाथों ही की जाती हैं।

बजरंग दल के इतिहास पर नज़र डालें तो पता चलेगा कि अक्टूबर 1984 में उसकी स्थापना विश्व हिन्दु परिषद की पहल पर हुई। यही वह दौर था जब विश्व हिन्दु परिषद की ओर से रामजन्म भूमि आन्दोलन का आयोजन किया जा रहा था। इस यात्रा को संरक्षण प्रदान करने के लिए हिन्दु युवकों को बजरंग दल के तत्वाधान में संगठित किया गया और विश्व हिन्दु परिषद की स्थापना साठ के दशक के पूर्वार्द्ध में तत्कालीन संघ सुप्रीमो गोलवलकर की पहल पर हुई थी। इसके लिए बैठक मुंबई के पवई में हुई थी। गौरतलब है कि इसमें बौद्ध धार्मिक नेता दलाई लामा भी मौजूद थे। तब से लेकर अब तक बजरंगदलियों और इनके पितृसंगठन विश्व हिन्दु परिषद के कार्यकर्ताओं के घिनौने कारनामे लोगों के सामने हैं। चाहे दिसम्बर 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस का मामला हो या 2002 में गुजरात काण्ड हो या अभी उड़ीसा के कंधमाल की घटना हो सभी जगहों पर पूरे योजनाबद्ध तरीके से बजरंगदलियों ने अपनी नपुंसक मर्दानगी का नंगा नाच किया। यही नहीं इन मानवद्रोही घटनाओं को अंजाम देने में राज्य सरकारें पूरा सहयोग देती दिखायी दीं। 2002 में गुजरात काण्ड इसका जीता जागता नमूना है। इस घृणित योजना को अमली जामा पहनाने में गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी का मुख्य योगदान था। तहलका काण्ड के माध्यम से लोगों को यह भी पता चला कि इनका आनुषंगिक संगठन भाजपा भी इन नृशंस जनसंहारों में अपनी पूरी भूमिका निभा रहा है।

इन फासीवादी संगठनों की विचारधारा का पता तो गोलवरकर द्वारा लिखी पुस्तक ‘वी, ऑर, अवर नेशनहुड डिफाइन्ड’ से ही चल जाता है जिसमें उसने लिखा है कि “...वही लोग राष्ट्रवादी देशभक्त हैं, जो हिन्दु नस्ल और राष्ट्र को महिमा प्रदान करने की आकांक्षा अपने हृदय में संजोये हैं, और उसी के तहत सक्रिय होते हैं और इस मकसद को पूरा करने के लिए जुटे रहते हैं, अन्य सभी या तो देशद्रोही हैं या राष्ट्रीय उद्देश्य के दुश्मन हैं या अगर थोड़ी सभ्य भाषा का इस्तेमाल हो तो मूर्ख हैं।” हिन्दु राष्ट्र के नाम पर इन “असली देशभक्तों” ने आम जनता में इन्हीं सड़ी-गली मूल्य-मान्यताओं, परम्पराओं की पैरोकारी की है, जो समाज में केवल दुर्गन्ध फैलाने का काम कर रहे हैं। तमाम नैतिकताओं की

बड़ी-बड़ी बात करने वाले इन हिन्दू कट्टरपंथी आतंकवादियों का दूर-दूर तक नैतिकता से कोई वास्ता नहीं होता है। बच्चों के अन्दर मानवद्रोही ज़हर घोलने का तो इन्होंने बीड़ा ही उठा रखा है, इन फासीवादियों को बच्चों के भविष्य की इतनी चिन्ता सताने लगी कि उन्होंने राजस्थान और मध्यप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के छात्रों के लिए नई पुस्तकें पाठ्यक्रम में शामिल की हैं। 'अथक चिन्तन' से तैयार कराई गयीं ये पुस्तकें छात्रों की चिन्ता से अधिक किसी और चिन्ता पर आधारित लगती हैं। इनमें मुसलमानों के विरोध में टिप्पणियाँ लिखी हैं। आखिर ये चौदह- पन्द्रह साल के बच्चे जब इन हिन्दुवादी संस्कारों की ट्रेनिंग से गुजर कर तैयार होंगे तो क्या करेंगे? और यही नहीं, आमलोग अपनी निजी जिन्दगियों में कैसे रहें, किससे बात करें, किससे न करें, क्या लिखें, कौन से चित्र बनायें, आज-कल इसका ठेका इन हिन्दुवादियों ने ले रखा है। लगता है अभी धर्म की ठेकेदारी कम पड़ रही थी जो लोगों की जिन्दगियों में हस्तक्षेप करने लगे!

आखिर राज्य सरकारों और केन्द्र सरकारों ऐसे धर्म के ठेकेदारों को गली के लम्पटों-गुण्डों की तरह क्यों साम्प्रदायिक कल्लेआम करने के लिए खुला छोड़ती है और असहाय मूक दर्शक बनी देखती रहती है? क्योंकि सभी पूँजीवादी पार्टियाँ वोट बैंक की राजनीति करती हैं। कोई कल्लेआम हो जाने का इंतज़ार करता है ताकि बाद में मरहम लगाकर और असुरक्षा की भावना का उपयोग करके वोट बटोरे तो कोई हिन्दु वोटों को नाराज़ नहीं करना चाहता। यह पूँजीवादी व्यवस्था इस मानवद्रोही आतंकी परियोजना को नई वैधता प्रदान करती है। भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था भूमण्डलीकरण के दौर में पैदा हुए आर्थिक-सामाजिक संकट से निपटने के लिए फासीवादी ताकतों को खाद-पानी दे रही है। पूँजीपति वर्ग निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को लागू करने के बाद से ही मजदूरों मेहनतकशों के क्रान्तिकारी जनउभारों को दबाने के लिए खुली आतंकवादी कार्यवाही के रूप में फासीवाद को जंजीर में बंधे कुत्ते की तरह इस्तेमाल करता है। फासीवादी ताकतें मेहनतकश जनता में साम्प्रदायिक दंगे फैलाकर क्षेत्रीयता, भाषा, जाति-धर्म के नाम पर उन्माद पैदा कर उन्हें उनके असली सवालों से गुमराह करती हैं। शायद इन फासीवादियों ने अपना इतिहास भूला दिया है। इतिहास में जनता ने जो हथ्र हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहों का किया था, वही हथ्र भारत में भी मजदूरों और मेहनतकशों की क्रान्तिकारी ताकत इन हिन्दु साम्प्रदायिक फासीवादियों का करेगी।

बाल मजदूरों के खून से सना विकास का यह चकाचौंध

● प्रेम प्रकाश

आजादी के 61 वर्ष बीत जाने के बावजूद बाल एवं बंधुआ मजदूरी बदस्तूर जारी है। विकास एवं जनकल्याण का सफेद झूठ बोलने वाली सभी सरकारें हमेशा ही इसे खत्म करने की कसम खाती रहती हैं परन्तु ये आजादी के इतने दिनों बाद भी और

अधिक बढ़ती जा रही है। सच्चाई तो यह है कि अंग्रेजों से सत्ता हस्तान्तरित होने के बाद देश में आयी कांग्रेस सरकार एवं उत्तरवर्ती समय में आयी सभी संसदीय सरकारें शोषण की जिस व्यवस्था की पोषक हैं उसे बाल श्रम से अकूत लाभ मिलता है। पिछले 61 वर्षों में बाल एवं बंधुआ मजदूरों के वीभत्स शोषण ने सरकार के जनता के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः भारतीय शासन के पैरोकारों को कभी भी भारतीय मेहनतकश जनता के भलाई की मंशा थी ही नहीं। अतः यह कहना बेमाने है कि सरकार बाल अधिकारों को प्रदान करने में असफल हुई है, क्योंकि सफल या असफल होना प्रयास करने पर निर्भर करता है। जब शोषकों की इस जमात ने कभी भी जनता के कल्याण का प्रयास ही नहीं किया तो असफल होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

भारत में ही नहीं बल्कि तीसरी दुनिया के सभी देशों में मेहनतकशों के शोषण के साथ उनके बच्चों से बाल मजदूरी करायी जाती है। विकासशील एवं पिछड़े देशों के बाल एवं बंधुआ मजदूर साम्राज्यवादियों के साथ साथ देशी शोषकों के दोहरे शोषण का शिकार हो रहे हैं। मानव विकास रिपोर्ट के मुताबिक भारत में 5 से 14 वर्ष की उम्र के 112 लाख बच्चे बाल मजदूरी कर रहे हैं। मानव विकास रिपोर्ट में स्पष्ट किया गया है कि बाल एवं बंधुआ मजदूरों के पैदा होने की वजह माँ-बाप की गरीबी, अशिक्षा एवं सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ बतायी गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि मेहनतकशों का शोषण ही उनको गरीब बनाता है और गरीब मेहनतकश अवाम के बच्चों को तमाम कामों में लगाकर शोषकों की जमात उनका दोहरा शोषण करती है। इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत में 14 वर्ष की आयु तक के 20 लाख बच्चे अपने घर से बाहर घरेलू नौकर के रूप में कार्य करते हैं। भारत सरकार के आँकड़ों के अनुसार 20 प्रतिशत बच्चे खतरनाक उद्योगों में संलग्न हैं। इन उद्योगों में ईंट निर्माण, पत्थर खदान, अग्नि कार्य उत्पादन (Firework Manufacturing), ताला उद्योग एवं शीशा उद्योग शामिल है। उन उद्योगों में काम करने की कार्यदशाएँ जहाँ प्रतिकूल हैं वहीं सुरक्षा उपायों की खुल्लम-खुल्ला अवहेलना की जाती है जिससे मजदूरों के जीवन पर हमेशा तलवार लटकी रहती है।

बाल एवं बंधुआ मजदूरों के शोषण का सबसे वीभत्स रूप बच्चों एवं लड़कियों का क्रय-विक्रय है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 50 लाख औरतों और बच्चों को देह व्यापार के धन्धे में धकेल दिया जाता है। 'बाल अधिकार एवं आप' नामक एक संस्था के अध्ययन के अनुसार भारत में 19 प्रतिशत बच्चे स्कूल तक नहीं जा पाते एवं 4 प्रतिशत बच्चे अपनी गरीबी के कारण आर्थिक गतिविधियों में लगे हैं। भारतीय न्याय व्यवस्था भी बाल मजदूरी एवं अशिक्षा के लिए प्रथम अपराधी बच्चे के माँ-बाप को ही मानती है, लेकिन क्या कोई माता-पिता अपनी इच्छा से अपने बच्चे को बाल-मजदूरी में धकेलता है। कदापि नहीं। वरन उसके जीने की पूर्वशर्त ही उन्हें यहाँ ला खड़ा करती है। लेकिन इसके लिए जिम्मेदार यह शोषणकारी व्यवस्था अपने आप को साफ बरी कर लेती है।

बाल एवं बंधुआ मजदूरी आर्थिक रूप से पिछड़े एवं शोषित क्षेत्रों में जहाँ मेहनतकशों का शोषण अत्याधिक तेज हो रहा है अपने नंगे रूप में पायी जाती है। उड़ीसा, झारखण्ड, बिहार के लोग दिल्ली में जेवर बनाने एवं रंगाई करने के काम में बंधुआ मजदूरी

करते हैं। दिल्ली में आज भी ज़री के कारखानों में 50 हजार बच्चे काम कर रहे हैं, यह आँकड़ा और भी बढ़ा होगा यदि अन्य क्षेत्रों के बाल श्रम को इसमें शामिल कर दिया जाये। दिल्ली में खानपुर, नरेला, सीलमपुर, कोटला मुबारकपुर, मंगोलपुरी, मदनगीर एवं सरायकाले खाँ के समीप ज़री के कारखानों में बाल मजदूरों की भारी संख्या रहती है। शासन भले ही कुछ इनाकों में बाल एवं बंधुआ मजदूरी खत्म करने की बात करे लेकिन यह जारी है क्योंकि मजदूरों को कोई उचित नियोजन नहीं होने के कारण उनके जीवन की ज़रूरतें पुनः उसी उद्योगों में ला खड़ा करती हैं जहाँ से उनको मुक्त कराया गया था। गाँवों में बाल एवं बंधुआ मजदूरी और अधिक है और शासन के पैरोकारों और रखवालों की जमात इन बच्चों का खून निचोड़कर अपनी तिजोरियाँ भरने में सबसे आगे हैं। दबंग कारखाना मालिक, ठेकेदारों की पहुँच शासन के गलियारों तक हैं और ये खुद शासन में शामिल हैं। पुलिस और प्रशासन इनकी जेब में रहता है। बाल एवं बंधुआ मजदूर अपनी पारिवारिक आर्थिक समस्या के कारण अपने शोषण के खिलाफ आवाज़ नहीं उठा पाता। इसका एक प्रमुख कारण असंगठित क्षेत्रों में बाल मजदूरी का होना है। यहाँ तक कि दिल्ली तक में मजदूरों को सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से बहुत कम और कहीं-कहीं आधी मजदूरी दी जाती है। श्रम अधिकारियों से लेकर प्रशासन और पुलिस सब श्रम की इस लूट में शामिल हैं और इसकी बंदरबाट में सफेदपोशों की जमात भी अपना हिस्सा पाती है।

इस लूट को न तो सरकार कम करना चाहती है और न कम कर सकती है क्योंकि पूँजीपतियों के अन्धाधुन्ध लाभ एवं लूट को इससे बट्टा लग जायेगा। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार पूँजीपतियों एवं लुटेरों की सलाहकार समिति होने के नाते तमाम एन.जी.ओ., अस्मितावादी, पहचानवादी संस्थाओं के द्वारा एवं स्वयं द्वारा तमाम छद्म सुधार कार्यों द्वारा बाल मजदूरों के शोषण को दीर्घकालिक बनाना चाहती हैं।

सामाजिक जीवन की समस्याओं का निराकरण उसके मूलभूत कारणों के उच्छेदन एवं समापन से जोड़ा जाना चाहिये तभी ऐसी समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। लेकिन शासन एवं इनकी पोषक संस्थाओं की अपनी-अपनी स्वार्थ लिप्सा एवं शोषण अथवा यों कहें कि उनके जिन्दा होने की शर्त के कारण, न तो उनका उद्देश्य कभी भी मेहनतकश आवाम की समस्याओं के मूल कारणों की पहचान करना होता है न ही उन समस्याओं को खत्म करना क्योंकि इन समस्याओं के मूल कारण शोषकों की गतिविधियाँ एवं कार्य हैं। ऐसी समस्याओं का समाधान एक समतामूलक व्यवस्था की माँग करता है जो शासन के मौजूदा स्वरूप में उसकी मृत्यु की माँग पर आधारित है। ऐसी सारी समस्याओं का मूल आर्थिक असमानता एवं शोषण पर टिकी व्यवस्था में है।

बाल मजदूरों को आज होटलों, एक्सपोर्ट घरों, भट्टों, घरेलू नौकरी एवं अनेक ऐसे ही कामों से मुक्त करवाना इसका हल नहीं है। इसका प्रमुख कारण है आर्थिक असमानता, श्रम का शोषण, मजदूरों के सम्मुख कार्यों की ऐसी उपस्थिति जिसमें वह चयन नहीं करते बल्कि वह बेचने के लिए खुद को प्रस्तुत करते हैं। शोषण ने श्रमिकों से शिक्षा, चिकित्सा, आवास सभी कुछ छीन लिया है, उनके सामने हमेशा एक यक्ष प्रश्न होता है, जिन्दा रहने की न्यूनतम

शर्त, भोजन और वह भी उतना ही जिससे वह काम करने लायक बने रह सके। यह प्रमुख प्रश्न पूँजीवादी शोषणकारी व्यवस्था की देन है और इसकी नियति भी। अतः आज अगर बाल मजदूरों को महज इन कामों से हटा दिया जाये तो ये पुनः उसी तरह के किसी काम में वापस आयेंगे क्योंकि इनके पास जीवित रहने के लिए और कोई विकल्प ही नहीं है।

खस्ताहाल शिक्षा सुविधाओं पर छात्र-छात्राओं का प्रदर्शन

● विवेक

दिल्ली में 2010 में कॉमनवेल्थ गेम होने वाले हैं और 2010 तक दिल्ली को पेरिस बनाने की बात की जा रही है जिसके लिए करोड़ों की परियोजनाओं पर काम हो रहा है। लेकिन दिल्ली के ही सरकारी स्कूलों की हालत इस चमचमाती दिल्ली की पोल खोल रही है। किसी स्कूल में बच्चे खुले आसमान में पढ़ रहे हैं तो कहीं तम्बू में और कहीं जर्जर इमारतों में। कहीं पंखें नहीं तो कहीं पीने को साफ पानी नहीं और कहीं पर एक ही कक्षा में 100-150 बच्चे ठूस दिये जाते हैं और शौचालय तो हमेशा गन्दे ही रहते हैं।

इन्हीं सारी परेशानियों को लेकर विगत 1 सितम्बर को दिल्ली के यमुनापार स्थित सोनिया विहार के राजकीय माध्यमिक कन्या विद्यालय कि छात्राओं ने प्रदर्शन किया और वजीराबाद रोड पर चक्का जाम किया। छात्राओं का आरोप था कि इन सारी परेशानियों को लेकर जब भी वे अपने अभिभावकों के साथ प्रिंसिपल भुवनेश कुमारी से मिली तो उन्होंने उनके साथ गाली-गलौज की। आठवीं कक्षा की छात्रा आशु ने बताया कि स्कूल की प्रिंसिपल उन्हें 700 रुपये की जगह 300 रुपये की छात्रवृत्ति दे रही है इसके अलावा दसवीं की छात्रा इन्द्रा ने बताया कि एक कक्षा में 100-100 बच्चों को बिना लाइट और बिना पंखे के बिठाया जाता है जबकि प्रिंसिपल और स्टाफ रूप में पंखे हैं बाकि पूरा स्कूल सभी सुविधाओं से वंचित है।

इन्हीं माँगों को लेकर जब ये छात्राएँ प्रदर्शन कर रहीं थी तो जैसे कि हमेशा होता है दिल्ली पुलिस जिसका नारा है “सदैव आपके लिए, आपके साथ” उसके जवानों ने इन बच्चों पर लाठियाँ भाँजनी शुरू कर दी। जिसमें दसवीं की छात्रा मोनिका के पैर पर पुलिस वालों ने जोर से लाठी मारी जिससे वो बेहोश हो गयी। इसके अलावा श्यामलाल कॉलेज के छात्र सुशील कुमार को भी गम्भीर चोटें आई हैं और बाकी छात्र-छात्राओं और उनके अभिभावक पर भी पुलिस ने लाठी चार्ज किया।

ये हकीकत है इस व्यवस्था की। यहाँ पर जब भी आप अपने हक-अधिकारों के लिए आगे आयेंगे तो आपका स्वागत लाठियों-गोलियों से होगा। तो क्या ये बेहतर है कि सब कुछ देख कर भी सहने की आदत डालें और अपने आँख, नाक, कान बन्द रखे बस जीने के लिए जीते रहें? लेकिन ये बच्चे जो आज आवाज़ उठा रहे हैं, लाठियाँ खा रहे हैं, क्या ये चुप रहे पायेंगे? ये ही वे बच्चे हैं जो संघर्ष करना सीख रहे हैं, जो अपना शस्त्राभ्यास जारी रखे हुए हैं और इन्हीं से आने वाले कल को उम्मीद है। बेहद कम

उम्र में ही ये इस व्यवस्था और समाज की असलियत को समझ रहे हैं और एक नफ़रत का ईंधन अपने भीतर भर रहे हैं।

संसद के गलियारे में भगतसिंह की प्रतिमा

● आशीष

आज़ादी के 61 वर्ष पूरे होने पर देश की संसद के गलियारे में शहीदे-आज़म भगतसिंह की प्रतिमा का अनावरण किया गया। 18 फीट ऊँची इस कांस्य प्रतिमा की लागत पचास लाख बतायी जा रही है। संसद भवन परिसर में भगतसिंह को श्रीमती इंदिरा गांधी की प्रतिमा के बगल में सुशोभित (!) किया गया है। इसे शिल्पकार राम बी सुतार ने गढ़ा है जो प्रतिमा तो है लेकिन भगतसिंह की नहीं लगती। यह एक अलग सवाल है।

संसद में भगतसिंह की प्रतिमा लगने की बात सोचते ही मन में ढेर सारे सवाल कौंधने लगते हैं। अजीब इत्तेफ़ाक है अभी ज्यादा दिन नहीं हुए जब इसी हुकूमत के कारकूनों द्वारा उड़ीसा में भगतसिंह को बतौर आतंकवादी पढ़ाया जा रहा था। और अब वही लोग भगतसिंह को महान देशभक्त, बहादुर क्रान्तिकारी बताते हुए उन्हें मूर्ति में तब्दील करने में लगे हुए हैं।

आखिर देश के हुक्मरान भगतसिंह पर इतने मेहरबान क्यों हो रहे हैं? क्या भगतसिंह के विचारों के अनुरूप व्यवस्था का पुनर्गठन होने जा रहा है? क्या 'बहरे' कान देश के करोड़ों आम लोगों की चीखें सुन पा रहे है? या भ्रष्ट पूँजीवादी राजनीति के पहलूये देश की दशा-दिशा देखकर 'कुछ' सोचने को मजबूर हो रहे हैं! सच यही है कि देश की मौजूदा दशा दिशा हुक्मरानों को 'कुछ' सोचने पर मजबूर कर रही है।

पहला सवाल यही बनता है कि इन्हें भगतसिंह की मूर्ति लगाने की ख्याल आज के दौर में ही क्यों आया। इसके पीछे निश्चित तौर पर देश में भगतसिंह के विचारों की बढ़ती प्रासंगिकता है। उनके विचारों की ग्रहणशीलता बढ़ी है। जिस समझौतापरस्त तत्कालीन नेतृत्व से आगाह करते हुए भगतसिंह ने कहा था कि अगर आज़ादी इनके माध्यम से आयेगी तो निश्चित तौर पर मुट्ठीभर अमीरजादों की आज़ादी होगी। विगत साठ साल के सफरनामे ने यही साबित किया है। व्यापक जनता के सामने तथाकथित आज़ादी का मुलम्मा उतर चुका है। ऐसे में जब तमाम तरीकों से भगतसिंह के विचार आम जन में पैठ बनाने लगे हैं तब शासक वर्ग की मजबूरी बनती दिख रही है कि अब वे सीधे-सीधे भगतसिंह को नकार नहीं सकते हैं। अगर ये सच्चे मन से भगतसिंह को स्वीकार कर रहे होते तो आज़ादी के बाद गांधी, नेहरू की संकलित रचनाओं के बरक्स उनके विचारों को दबाने का प्रयास नहीं करते। उनके लेखों, दस्तावेजों को जन-जन तक पहुँचाने का काम सरकारी महकमे ने नहीं किया बल्कि भगतसिंह की सोच को मानने वाले क्रान्तिकारी संगठनों ने किया है।

दूसरी बात जहाँ मूर्ति का सवाल है उसे लगाने में कोई दिक्कत नहीं। प्रतीक चिन्हों के तौर पर जनता हमेशा अपने नायकों की मूर्तियाँ लगाती रही है। मूर्ति कौन लगा रहा है! और उसकी

मंशा क्या है? यह दूसरा महत्वपूर्ण सवाल है। वे लोग जिनका भगतसिंह की विचारधारा से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। यही नहीं! ये वे लोग हैं जो भगतसिंह के विचारों को आम लोगों तक पहुँचाने वाले लोगों की राह में तमाम रोड़े अटकाते रहे हैं। जब वे भगतसिंह का नाम लेते हैं तो मन शंकालु हो उठता है। कहते हैं जिस विचार को रोक न सको उसके प्रतीकों को आम जन में इस तरह पेश करो कि या तो वह 'पूज्य' लगने लगे, पहुँच से दूर लगने लगे या उसे खास छवि में बाँध दो, उसकी कोई जातिगत पहचान, धार्मिक पहचान बना दो जिससे उसकी ऊष्मा क्षीण हो जाये।

देश के हुक्मरानों ने भगतसिंह की प्रतिमा लगा कर यही कुछ करने की कोशिश की है भगतसिंह के नाम से बतायी जा रही यह प्रतिमा भगतसिंह की कतई नहीं लगती। इसमें भगतसिंह को पगड़ी बाँधे, दोहरी कद-काठी, दाढ़ी व घनी मूँछे सहित कुर्ता पहने दिखाया गया है जबकि भगतसिंह ने 1928 से लेकर 23 मार्च 1931 को अपनी फांसी चढ़ने तक पगड़ी नहीं पहनी थी और दाढ़ी नहीं रखी थी। वे इकहरे बदन के नौजवान थे। वे किस दौर के भगतसिंह को स्थापित करना चाहते हैं? तब भगतसिंह की ऐसी खास छवि बनाकर हृष्ट-पुष्ट जट-सिख पेश करने का मतलब? सरकारी विज्ञापनों में और जाट पुत्तर के तौर पर भगतसिंह को पेश करते जातिवादी संगठनों में यही समानता दिखती है।

क्या यह अकारण है! नहीं। यह एक साजिश है। ये उन्हें खास धर्म व जाति की छवि में बाँधने का प्रयास कर रहे हैं। भगतसिंह के जीवन व कर्म में कोई वैपरीत्य नहीं था। वे जिन विचारों को मानते थे उन्हें ही अपने जीवन पर लागू करते थे। यही 'विचारों की सान' भगतसिंह को हमारा नायक बनाती है। लेकिन हुकूमत ऐसे विचार को जो उसके ढोंग-पाखण्ड की पोल खोलती हो बर्दाश्त नहीं कर पाती। वह ऐसे विचारों को धूमिल करने के हज़ार एक प्रयास करती है। यह प्रतिमा अनावरण प्रसंग उसी का जीता जागता उदाहरण है।

पूँजीवादी दार्शनिक की चिन्ता, मैनेजिंग कमेटी को

सलाह

● प्रेमप्रकाश

लुटेरों और शोषकों के समूह पूँजीपति वर्ग की लूट को दीर्घकालिक बनाने के लिए एवं सुनियोजित लूट का रूप देने के लिए जो संस्था काम करती है उसे संसद कहते हैं। बुर्जुआ संसद जब कभी लुटेरों की लूट का प्रबन्ध करने में कठिनाई महसूस करती है अथवा शोषण को मुखौटे के अन्दर छिपाने में चूक जाती है तो पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार महागुरु दार्शनिक अपनी ज्ञानमयी वाणी द्वारा शोषण को दीर्घकालिक बनाने का प्रवचन करके मार्ग दर्शन करते हैं।

ऐसे ही एक महागुरु भारतीय मनीषा के तथाकथित वर्तमान वाहक अमर्त्यसेन की चिन्ता वाणी का रूप धारण कर प्रस्फुटित हुई। अवसर था प्रो.हीरेन मुखर्जी स्मृति व्याख्यान। संसद के केन्द्रीय

कक्ष में 'सामाजिक न्याय की मांग' विषय पर अपने व्याख्यान में प्रो. सेन ने भारतीय शासन के पैरोकारों एवं नीति निदेशकों तथा भारतीय राज्य व्यवस्था को कटघरे में खड़ा कर दिया। हालाँकि श्री सेन के भाषण में निन्दा, आलोचना अथवा आक्षेप का स्वर नहीं था और हो भी कैसे सकता है! महागुरु इन सबसे ऊपर उपदेश की मुद्रा में जो थे!

इस कार्यक्रम में संसद में पक्ष एवं विपक्ष के तथाकथित जन प्रतिनिधि, प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह, लालकृष्ण आडवाणी, लोकसभा की मर्यादा अध्यक्ष श्री सोमनाथ चटर्जी और सोनिया गाँधी मौजूद थीं, क्योंकि नसीहत का पाठ सबको पढ़ना था और साझा उद्देश्य के लिए दी जाने वाली यह शिक्षा तो सभी के लिए समान रूप से उपयोगी थी।

जब श्री सेन यह कह रहे थे कि एक प्रजातांत्रिक सरकार को जनता के लिए नीति एवं न्याय की रक्षा करनी चाहिये तो वह लुटेरों को परोक्षतः सब कुछ खुल्लम-खुल्ला न करने की बजाये मुखौटे के भीतर रहकर करने की बात कह रहे थे। क्योंकि शासन के जिस चरित्र और व्यवहार की कलई देश की हर मेहनतकश जनता के सामने खुल चुकी है, जिसमें कैसर लग चुका है उसी व्यवस्था में पैबन्द लगाकर न्याय की बात करने का और क्या अर्थ हो सकता है? जब श्री सेन बाल कुपोषण, प्राथमिक शिक्षा की कमी, चिकित्सा का अभाव एवं गरीबी को दूर करने के लिए सामाजिक न्याय की बात कर रहे थे तो क्या वे भूल गये थे कि इस सबके पीछे आम मेहनतकशों का शोषण एवं वही पूँजीवादी व्यवस्था है जिससे वह सामाजिक न्याय की गुहार लगा रहे हैं। अपने भाषण को समेटते हुए श्री अमर्त्य सेन यह कह रहे थे कि कानून बनाने वाले लोग अर्थात् नेता और मंत्री को अधिक स्पष्ट रूप से जागरूक होना चाहिये तो वस्तुतः वे पूँजीवाद के ऊपर आने वाले खतरे से आगाह कर रहे थे जो मुखौटा-विहीन शोषण से पैदा हो रहा है। क्योंकि अगर सेन में थोड़ी भी दृष्टि होती तो वे देख सकते कि जिनसे वह समानता की स्थापना, गरीबी कुपोषण एवं अशिक्षा को मिटाने के लिए कानून बनाने एवं अमल में लाने के लिए सामाजिक न्याय की बात कर रहे हैं उस अन्याय के जिम्मेदार वही लोग हैं वरन इसके पैदा होने के स्रोत वे ही हैं। ऐसी समस्याओं के हल की विश्वदृष्टि जिस वर्गीय पक्षधरता एवं धरातल की मांग करती है वह श्री सेन के पास नहीं है।

अमर्त्य सेन जैसे व्यक्ति यह क्यों नहीं सोचते कि जब समस्त शासन व्यवस्था, नीतियों के सूत्रधार, राजनीतिक प्रतिष्ठान इसी प्रकृति का शिकार हैं तो न्याय की उम्मीद किससे की जाये। क्या किसी चमत्कार में विश्वास किया जाये। सेन की चिन्ता का विषय सामाजिक न्याय नहीं वरन दर्शन द्वारा उस पक्ष की रक्षा करना है जिसके वो सिद्धान्तकर हैं। श्री सेन से यह पूछा जाये कि अन्याय और अभाव की इन परिस्थितियों का जिम्मेदार कौन है? यह किसकी देन है? इस सामाजिक अन्याय, आर्थिक असमानता और गरीबी-अशिक्षा आदि के पीछे मूल कारण कौन हैं। आखिर वे किससे न्याय की उम्मीद कर रहे हैं। उनकी चिन्ता का एक विषय यह है कि 'कमजोर वर्ग अपने से अधिक शक्तिशाली वर्ग की दया पर निर्भर रहने पर विवश है लेकिन इस असमानता की उत्पत्ति कमजोर और शक्तिशाली वर्गों के अस्तित्व के मूल कारणों पर वे

मौन क्यों हैं। उनका यह सुझाव कि सरकार को राजनीतिक नेतृत्व की समस्याओं का समाधान खोजने के लिए प्राथमिकता तय करनी चाहिये, अच्छा ख्याल है। लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि समस्याओं के समाधान की दृष्टि भी वर्ग दृष्टि होती है और कोई भी शोषक वर्ग इन समस्याओं का समाधान अपनी मृत्यु की शर्त पर क्यों करने लगा।

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने जो उस कक्ष में मौजूद थे ने वहीं अपने भाषण में कहा कि अमर्त्य सेन के विचारों के अनुरूप ही सरकार सामाजिक न्याय एवं विकास को मानवतावादी स्वरूप दे रही है। परन्तु प्रश्न यह है कि जब सरकार अमर्त्य सेन के विचारों के अनुरूप ही कार्य कर रही है तो समस्या कहाँ है? जाहिर है कि शासन और सरकार अपने अन्दर झँकने की जरूरत भी महसूस नहीं कर रही है तो ऐसे में नयी कार्ययोजना एवं प्राथमिकताएँ पैदा करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

अब अगर यह पूछा जाये कि जब सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं है तो श्री सेन एवं पूँजीवादी नीति निदेशकों की चिन्ता इतनी तेज क्यों? क्योंकि वे स्पष्ट रूप से जानते हैं कि शोषण से पैदा हो रहे असन्तोष और मेहनतकशों का लावा उनके पॉम्पेई को गलाकर रख देगा। इसलिए श्री सेन पूँजीपति वर्ग से शोषण की प्रकृति को नरम एवं ठण्डा बनाने की बात कर रहे हैं। लेकिन अमर्त्य सेन यह भूल रहे हैं कि शोषण का अतितीव्र एवं गहन होना ही पूँजीवादी विकास की शर्त है। यह सामाजिक अन्याय असमानता कोई आसमान से टपकी चीज नहीं है न ही यह भाग्य विधान की उपज है जैसा कि भाववादी बताते हैं बल्कि यह मौजूदा व्यवस्था के अन्तरविरोध से पैदा हुई उसके विनाश का बीज है। पूँजीवादी व्यवस्था अपनी मृत्यु का बीज अपने अन्दर ही समाहित किये हुए हैं। अगर पूँजीवादी व्यवस्था वास्तव में कल्याणकारी हो जायेगी तो इसका अर्थ होगा श्रम के अधिशेष को न निचोड़ना अर्थात् उत्पादन का समान वितरण। परन्तु ऐसा करने से यह व्यवस्था स्वयं ही अपनी मृत्यु की तरफ बढ़ जायेगी और यह ऐसा नहीं करेगी। दूसरे, इस पूँजीवादी लूट से एक सर्वहारा वर्ग का सृजन होता है जिसके पास अपने श्रम को बेचने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और उसकी घृणा और नफरत शोषक वर्गों के खिलाफ एक लावे की तरह खोल रही है जो पूँजीवाद को कब्र में पहुँचाकर ही शान्त होगी।

अमर्त्य सेने की शिक्षा एवं उनकी बातों में निहित अर्थों पर विश्वास करने का अर्थ है नरभक्षी भेड़ियों के सामने खड़े होकर न्यायपूर्ण जीवन की बात सोचना। पूँजीवादी समाज के मूल में सामाजिक न्याय नहीं मत्स्य-न्याय होता है जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली की सुविधा एवं जान की परवाह किये बगैर खा जाती है यही बड़ी मछली के जीने की शर्त है, यही मत्स्य-न्याय है और यही पूँजीवाद का न्याय है।

श्री सेन कितना भी दिव्य-दृष्टि प्रदान करने का प्रयास करें, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। पूँजी अपनी स्वाभाविक गति से असमानता, शोषण, लूट, गरीबी, बेरोज़गारी और अशिक्षा पैदा करती है। पूँजीवाद का विकल्प संत पूँजीवाद नहीं बल्कि समाजवाद है। यही बात अमर्त्य सेन जैसे लोग समझकर भी नहीं समझना चाहते हैं।

एक घर हो सपनों का...

• विवेक

अभी हाल ही में डी.डी.ए. आवास योजना-2008 और दिल्ली सरकार की राजीव रत्न आवास योजना शुरू हुई। दोनों ही योजनाओं ने दिखा दिया कि वास्तव में एक बहुत बड़ी आबादी के लिए आवास लेना एक सपने जैसा है। डी.डी.ए. आवास योजना-2008 में शुरुआती दो दिनों में एक लाख चालीस हजार फार्म बिके और आवेदन कि तारीख खत्म होने तक सम्भावना है कि बीस लाख फार्म बिक जायेंगे। जबकि डी.डी.ए. के पास केवल पाँच हजार प्लैट ही हैं। ऐसे में अगर पाँच लाख आवेदन भी होते हैं तो एक के लिए भी प्लैट निकलने की सम्भावना हजारवें हिस्से के बराबर है। ठीक ऐसे ही हालत राजीव रत्न आवास योजना के हैं। फार्म बिक्री केन्द्र पर रात से ही लम्बी लाइन लग जाती है और हर सुबह फार्म के लिए मारा-मारी होती है, पुलिस का लाठी-चार्ज होता है, एक दो सिर फूटते हैं और कुछ को फार्म मिल जाते हैं।

हालाँकि ये वे लोग हैं जो एक लाख से पन्द्रह लाख खर्च करके प्लैट खरीदने का सपना देख सकते हैं, लेकिन एक बहुत बड़ी आबादी ऐसी भी है जो गन्दी बस्तियों में रहने के लिए ही मजबूर है। अकेले भारत में लगभग 17 करोड़ लोग शहर की गन्दी बस्तियों में रहने के लिए मजबूर हैं।

ऐसे में सबसे पहले यह जाना जाये कि आखिर आवास समस्या का कारण क्या है।

पहली बात तो यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसी सामाजिक समस्या बनी ही रहती है क्योंकि जिसमें मेहनतकश जनसाधारण कि विशाल संख्या सिर्फ अपने श्रम के बल पर अपना और अपने परिवार का गुजारा करती है। और बेरोजगार मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या फैक्ट्री-कारखानों के बाहर रिजर्व सेना के रूप में खड़ी रहती है। और साथ ही गाँवों और पिछड़े क्षेत्रों से बहुत बड़ी आबादी रोजी-रोटी के लिए औद्योगिक शहरों में आती रहती है इनकी पहली जरूरत सिर्फ दो समय का भोजन का जुगाड़ करना ही होता है, बुनियादी नागरिक अधिकार तो दूर की बात है ऐसे में शहरों, महानगरों के पास मजदूर बस्ती बसती जाती है एक तरफ गगनचुम्बी इमारतें, 15-20 कमरों वाली कोठियाँ होती हैं और दूसरी तरफ रहने को छत भी नहीं होती। इसलिए इस व्यवस्था में ये असमानता और ये समस्याएँ बनी ही रहेंगी।

फिर आवास समस्या का समाधान क्या हो?

आवास समस्या का समाधान आवास समस्या के कारणों में ही छिपा है। “आवास समस्या को सिर्फ तब ही हल किया जा सकता है जब समाज का इतना रूपांतरण किया जा चुका हो कि शहर और गाँव के बीच विषमता का उन्मूलन करने की शुरुआत की जा सके।” (एंगेल्स, *आवास समस्या*)। जाहिर है यह रूपांतरण तब तक नहीं हो सकता जब तक ऐसी व्यवस्था रहेगी जिसके केन्द्र में मुनाफा होगा। यह रूपांतरण तब ही हो सकता है जब ऐसी व्यवस्था हो जिसके केन्द्र में मानव हो। एंगेल्स ने आवास समस्या के लेख में कहा है “आवास समस्या अथवा मजदूरों की स्थिति को प्रभावित करने वाली किसी भी सामाजिक समस्या के किसी अलग-थलग समाधान की आशा करना मूर्खता है। समाधान पूँजीवादी उत्पादन रीति के उन्मूलन और सभी निर्वाह तथा सभी श्रम उपकरणों के स्वयं मजदूर वर्ग द्वारा हस्तगतकरण में निहित है।”

महामंदी - 11

(पेज 21 से जारी)

और बैंकिंग आदि का कोर्स करके बाहर फुर्र से उड़ जाना चाहते थे। बाहर के बैंकों में पहले ही हज़ारों रोज़गारों की कटौती की जा चुकी है। और यह प्रक्रिया अभी जारी है। तमाम भारतीय धनिकों की सन्तानों को जो एप्वाइंटमेंट लेटर मिले थे उन्हें अनिश्चित काल के लिए रद्द किया जा रहा है। भारतीय आई. टी. कम्पनियाँ जो अमेरिकी निवेश बैंकों के लिए काम करती थीं, तबाही की कगार पर खड़ी हैं। यही प्रक्रिया पूरी दुनिया में जारी है और अभी यह संकट अपने पूरे आकार में सामने नहीं आया है। सभी राष्ट्रध्यक्ष इस बात को मान रहे हैं कि यह संकट अभी और बढ़ने वाला है। बुश ने स्वयं कहा है कि अमेरिका एक लम्बी और यंत्रणादायी मन्दी की ओर बढ़ रहा है। अभी अमेरिकी सरकार 700 अरब डॉलर वित्तीय बाज़ार में डाल रही है ताकि स्टूटबाज़ों को कोई नुकसान न हो और जो वित्तीय बुलबुला बना है वह फूटे नहीं बल्कि और फूले। अगर ऐसा करके कुछ समय के लिए संकट के प्रभाव को टाला भी जा सके तो बहुत जल्दी ही यह संकट और विकराल रूप में विश्व पूँजीवाद के सामने होगा।

तमाम संशोधनवादी वामपंथी अर्थशास्त्री पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दायरे में ही रहते हुए विनियमन को लागू करके इस संकट को दूर करने का कीन्सियाई नुस्खा सुझा रहे हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि पूँजी की गति को विनियमित करना पूँजीवादी सरकारों के बूते की बात नहीं होती है। मुनाफे की हवस से चलने वाली एक अनियंत्रित, अनियोजित और निजीकृत अर्थव्यवस्था में यही हो ही सकता है। बीच-बीच में होने वाला सरकारी कीन्सियाई हस्तक्षेप संकट को कुछ समय के लिए टाल सकता है, सिर्फ दुबारा और अधिक तूफानी गति और संवेग के साथ आने के लिए। यह विनियमन एक शेखचिल्ली का सपना है। ऐसा कोई भी विनियमन पूँजीवादी विश्व को इन चक्रीय संकटों से नहीं बचा सकता है। इसके सभी तर्कों को यहाँ विस्तार के साथ नहीं बताया जा सकता है। हम अपने पाठकों को पिछले अंक में अमेरिकी सबप्राइम संकट पर प्रकाशित लम्बे लेख को पढ़ने का सुझाव देंगे। संक्षेप में, यह साम्राज्यवाद के भूमण्डलीकरण के दौर का संकट है। भूमण्डलीकरण विश्व साम्राज्यवाद की चरम अवस्था है। इसके बाद पूँजीवाद के पास कोई नयी शरणस्थली नहीं है। ऐसे संकट दुनिया भर में मजदूरों और आम जनता में एक भयंकर असन्तोष को जन्म दे रहे हैं और आम मेहनतकश जनता इस बात को धीरे-धीरे समझ रही है कि पूँजीवाद इस दुनिया के आम लोगों को अब सिर्फ भूख, बेरोज़गारी, कुपोषण और बरबादी दे सकता है। मानवता को इसके विकल्प के बारे में सोचना होगा, किसी बेहतर सन्त कल्याणकारी पूँजीवाद के बारे में नहीं।

प्रधानमंत्री का प्राथमिक शिक्षा पर स्यापा

● अजय

5 सितम्बर को शिक्षक दिवस के पुरस्कार वितरण समारोह के कार्यक्रम में देश के प्रधानमंत्री स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की बढ़ती दर से दुखी होते हुए बोले कि शिक्षा के प्राथमिक स्तर को बेहतर बनाने की मुहिम शुरू की जाये।

वैसे देश में शिक्षा को नागरिक अधिकार बनाने की कवायदें लम्बे समय से की जा रही हैं। 1964 में कोठारी आयोग ने शिक्षा को नागरिक अधिकार बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण पहल करते हुए सिफारिशें की थीं। लेकिन चवालीस साल बाद भी कोठारी आयोग की सिफारिश अमल की बाट जोह रही है। दरअसल, सवाल यह है की आज़ादी के 61 साल बाद भी प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनिक बनाने की प्रति सरकारों की उदासीनता क्यों बनी रही? वैसे अभी हाल में संसद के मानसूत्र सत्र में प्राथमिक शिक्षा के लिए 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक पास होना था। लेकिन केन्द्र और राज्य सरकारों ने अपनी वित्तीय तंगी की दुहाई देते हुए इसे ठण्डे बस्ते में डाल दिया जिससे साफ है कि सरकार ने आम लोगों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी से भी मुँह मोड़ लिया है। आगे लेख में हम प्राथमिक शिक्षा के सूरत-ए-हाल का जायज़ा लेंगे और देखेंगे कि आज शिक्षा के बुनियादी अधिकार को कैसे बाज़ारू माल बनाकर बेचने की साज़िश रची जा रही है।

'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक का इतिहास

सबको शिक्षा मुहैया कराने के लक्ष्य को पूरा कराने के लिए 2002 में संसद ने संविधान में छियासीवाँ संशोधन करके शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया था। इस संशोधन में कहा गया है कि राज्य छह से चौदह साल तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करायेगा। लेकिन इस पर अमल के बारे में कहा गया - यह उस तारीख से लागू होगा जिसे सरकार अपने अधिकृत गजट में घोषित करेगी। लेकिन पाँच साल से ज्यादा का समय हो गया शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिले हुए, मगर इस अधिकार को कानूनी जामा पहना कर लागू करने के लिए बना 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक पास नहीं हो पाया।

राजग के शासन काल में शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया गया और उसे लागू करने का विधेयक बनाया गया मगर विधेयक के प्रावधानों का अकादमिक हल्कों में तीखा विरोध हुआ। असल में कॉरपोरेट हल्कों के विरोध के कारण यह संसद में पेश नहीं पाया। इस बीच यूपीए सरकार आ गई। और यूपीए सरकार पिछले चार साल से विधेयक के साथ फुटबाल का खेल खेल रही है। सरकार ने विधेयक का नया मसविदा तैयार कराया। 2005 में केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालय और राज्य सरकारों के पास उनकी राय जानने के लिए भेजा गया। मगर बात नहीं बनी तो प्रधानमंत्री ने मानव-संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह की

अध्यक्षता में उच्चस्तरीय समूह, जिसमें वित्त मंत्री चिदम्बरम, योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोटेक सिंह अहलूवालिया और प्रधानमंत्री के सलाहकार सी रंगराजन को इस बारे में राय देने का काम सौंपा गया। लेकिन उच्चस्तरीय समूह का सबसे 'उच्चस्तरीय सुझाव' तो यही था कि केन्द्र सरकार को इस विधेयक को पास कराने की जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ कर यह जिम्मेदारी राज्य सरकारों पर डाल दी जाय।

फिलहाल, विधेयक लालफीताशाही का शिकार हो गया है। पिछले दिनों खबरें छपी थीं कि विधेयक मानसूत्र सत्र में पेश होगा मगर मंत्रीमंडल की बैठक ने इन उम्मीदों पर पानी फेर दिया। उसने विधेयक को पुनः विचार के लिए मंत्रीमंडल को सौंप दिया है यानी मामला जहाँ से शुरू हुआ था फिर वहीं पहुँच गया है बस पिछले चार बरस से यह विधेयक सरकार के विभिन्न महकमों के लिए फुटबाल बन गया है। ये महकमे इसे एक दूसरे की तरफ पास करके शिक्षा के मौलिक अधिकार को कानूनी जामा पहनाने के अपने संवैधानिक दायित्व से पल्ला झाड़ रहे हैं।

वैसे शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े कुछ लोगों का कहना है कि इस विधेयक में प्राइवेट स्कूलों में 20 फीसदी सीटें गरीब छात्रों के लिए आरक्षित रखने का प्रावधान है और इस प्रावधान को लेकर प्राइवेट स्कूल विधेयक के सख्त खिलाफ है। इसीलिए इस विधेयक के लालफीताशाही की बलि चढ़ने में इनका विशेष हित था।

आखिर 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक सरकार के लिए मुसीबत क्यों बना गया?

दरअसल 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक के प्रावधान सरकार के लिए मुसीबत का सबब बन गये। आइये इसके प्रावधान पर नज़र डालें। सरकार ने सबको शिक्षा उपलब्ध करने के लिए तीन वर्ष के भीतर गुणवत्तापूर्ण प्राथमिक शिक्षा और नजदीक शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान रखा था। ऐसा न होने पर कोई भी नागरिक, सरकार से व्यवस्था करने की माँग कर सकता है और इस प्रतिबद्धता को पूरा करने के लिए सरकार को देश के हर कोने में स्कूल खोलने पड़ेगा जो काफी खर्चीला काम है। सरकारी अनुमानों के मुताबिक सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने पर लगभग 2.25 लाख करोड़ का खर्च आयेगा। उच्चस्तरीय समूह यह चाहता है कि खर्च और जिम्मेदारी राज्य सरकारों उठायें। मगर राज्य सरकारें संसाधनों की कमी का रोना रोकर इस जिम्मेदारी से बचना चाहती है।

वैसे बड़े आश्चर्य की बात है क्योंकि अभी लगभग दो साल पहले जब संसद के मानसूत्र सत्र में लोकसभा के सांसदों के वेतन भत्तों और सुविधाओं की बढ़ोतरी का विधेयक पेश हुआ तब देश के 'जनसेवकों' ने संसाधनों और खर्च की कमी का रोना न रोकर, आपसी मतभेद भुलाकर आपने हित के विधेयक को एकमत होकर पारित किया। लेकिन 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा' विधेयक के लिए सभी

संसदीय पार्टियों के 'जनसेवकों' ने एक स्वर से देश में संसाधनों और धन की कमी का रोना रो दिया।

वैसे भी शिक्षा के मौलिक अधिकार को कानूनी जामा पहना भी दिया जाता तो भी शिक्षा के स्तर में कोई मूलभूत फर्क नहीं आने वाला है। क्योंकि 61 साल की आजादी में प्राथमिक शिक्षा प्रसार के लिए न जाने कितनी योजनायें बनीं। जैसे सर्वशिक्षा अभियान, शिक्षा गारंटी योजना आदि। लेकिन स्थिति वहीं ढाक के तीन पात।

आइये अब सरकारी सर्वेक्षण के जरिये प्राथमिक शिक्षा की तस्वीर देखते हैं। प्राथमिक शिक्षा की तस्वीर बयान करते सरकारी सर्वेक्षण यह बताते हैं

देश में 3200 प्राथमिक स्कूलों में एक भी छात्र नहीं है। सबसे खराब स्थिति हाइटेक प्रांत कर्नाटक की है जहां 799 ऐसे स्कूल हैं जिनमें छात्र ही नहीं हैं। जबकि कई स्कूलों में एक-एक शिक्षक दिहाड़ी पर नियुक्त है। शिक्षकों की यह स्थिति बिहार, उत्तरप्रदेश, केरल के साथ-साथ राजधानी दिल्ली में भी है।

जबकि बिना इमारतों वाले 92.35 प्रतिशत विद्यालय ग्रामीण इलाकों में है जहां अशिक्षा को दूर करने की सबसे बड़ी मुहिम चलाई जा रही है। इसमें मध्यप्रदेश में सबसे अधिक 38.74 प्रतिशत बिना इमारतों वाले स्कूल है।

ये आँकड़े भारत में प्राथमिक शिक्षा की हालत बयान करने के लिए काफी है इन आँकड़ों का खुलासा पिछले दिनों हुए सरकारी सर्वेक्षण में किया गया है। यह सर्वेक्षण नेशनल यूनिवर्सिटी आफ प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (एन.यू.ई.पी.ए.) द्वारा किया गया है। 'देश में 2005-2006 में प्राथमिक शिक्षा' नाम से जारी इस रिपोर्ट में 25 राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों के 11,24,033 स्कूलों की स्थिति का जायजा लिया गया है।

वैसे इन आँकड़ों से अलग देश की राजधानी दिल्ली के प्राथमिक स्कूल की बदतर हालात पर एक हिन्दी दैनिक अखबार की रिपोर्ट सामने आई है जिसमें दिल्ली के अलग-अलग स्कूल के हालात का जायजा लिया गया है जहां कई स्कूल में कमरों की संख्या कम होने के कारण छात्रों को पुराने जमाने के गुरुकुल की तरह पेड़ के नीचे बैठकर पढ़ाई करनी पड़ती है। दिन की पाली में धूप की वजह से बच्चों को कक्षाओं में बैठाया नहीं बल्कि टूसा जाता है। बाकी मूलभूत सुविधाओं की उचित व्यवस्था नहीं है और अभी हाल में इसी बाबत दिल्ली में सोनिया विहार के राजकीय माध्यमिक कन्या विद्यालय की छात्राओं ने स्कूल में असुविधाओं और प्रिंसिपल की मनमानी के विरोध में चक्का जाम कर दिया। स्कूल की 2500 छात्राओं का आरोप है कि सिर्फ प्रिंसिपल के कमरे और स्टॉफ रूम में पंखे हैं। बाकि पूरा स्कूल सभी सुविधाओं से वंचित है यहां एक कक्षा में 100-100 बच्चों को बिना पंखों के गर्मी में बिठाया जाता है

ये कुछ घटनाएं और आँकड़े प्राथमिक शिक्षा के स्तर का सूरत-ए-हाल बयान कर देते हैं जो 61 साल की आजादी की देन है।

प्राथमिक शिक्षा की बदतर हालात का जिम्मेदार कौन?

“अगर तुम आम लोगों को उनके सभी हकों से वंचित बनाये रखना चाहते हो तो उनसे शिक्षा का हक छीन लो।” शासक वर्गों की यह बहुत पुरानी नीति है। प्राचीन काल में आम लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का हक नहीं था क्योंकि ज्ञान के प्रति लोगों की जिज्ञासा हमेशा उन्हें शिक्षा हासिल करने के लिए लड़ने की प्रेरणा देती रही है और लोगों ने लम्बे संघर्षों के बाद ही सामाजिक न्याय और शिक्षा का

अधिकार प्राप्त किया था।

लेकिन आज जब देश में विकास के लम्बे-लम्बे कसीदे पढ़ते हुए अशिक्षा और निरक्षरता को दूर करने के लिए आकर्षक घोषनायें और कार्यक्रम तय किये जाते हैं तो उनका अमली रूप वही होता है जो मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा विधेयक या सर्वशिक्षा अभियान का हुआ।

इसी से जुड़ा प्रश्न है कि बच्चे स्कूल क्यों छोड़ देते हैं? असल में सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था उन्हें स्कूल से बाहर छोड़ आती है। ऐसा नहीं है कि स्कूल छोड़ने वाले बच्चे अपने जीवन में शिक्षा के महत्व को समझते ही नहीं या उनके मां-बाप को शिक्षा से कोई जन्मजात बैर हो। ऐसे ख्याल कई बार खाते-पीते मध्यवर्गीय को खासा मनोरंजन और संतुष्टि देते हैं कि ये लोग तो पढ़ना और आगे बढ़ना ही नहीं चाहते। यह बात भुला दी जाती है कि इन बच्चों और उनके परिवारों के लिए ये व्यवस्था दो जून खाने और रोज कमाने के बीच ज्यादा फासला नहीं छोड़ती। अध्ययनों में भी सामने आया है कि वंचित तबकों के ज्यादातर बच्चे ग्यारह साल की उम्र तक स्कूल से बाहर चले जाते हैं यह उम्र का वह मोड़ होता है, जहां से एक रास्ता स्कूल की तरफ आगे जाता है और दूसरा परिवार का पेट भरने में हाथ बंटाने की तरफ। और ऐसे में ये बच्चे अगर अपना नाम लिखना भी सीख लेते हैं तो सरकारी आँकड़ों के हिसाब से ये साक्षर मान लिये जाते हैं। दूसरी ओर शिक्षा प्रणाली के नीतिकार प्राथमिक स्तर पर ही मूल्य आधारित शिक्षा को अमली जामा पहना चाहते हैं। 2005 में एन.सी. ई.आर.टी के नेशनल फ्रेमवर्क फॉर करिकुलम नामक अपने दस्तावेज में इस कमेटी ने इस बात सिफारिश की प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर ही छात्रों को वर्ग और क्षमता के आधार पर वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिये। यानी स्कूल शिक्षा के दौरान ही औकात (वर्ग) के हिसाब से यह तय कर दिया जाना कि कौन आई.आई.टी., मेडिकल, इंजिनियरिंग की फीसों को चुकाने की औकात रखता है कौन है जो तकनीकी शिक्षा (आई.टी.आई, पॉलटेक्निक) तक औकात रखता है। बाकी जो उनमें भी न पहुँच सके वे दसवीं या बारहवीं के बाद देश की कुशल-अर्द्धकुशल मजदूर आबादी में शामिल हों और जो इतना भी न कर पाये वे देश बेरोजगार की फौज में शामिल हो जायें।

दोस्तो, ये तस्वीर बाजार के किसी शोरूम की लगती है जहां सबकी जेब की औकात के हिसाब से शिक्षा बिकाऊ माल के रूप में सजी हुई है। अब जिसकी जैसी औकात है वह वैसी शिक्षा खरीद ले।

वैसे भी हर शिक्षा प्रणाली में व्याप्त असमानता, सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में व्याप्त असमानता से ही उत्पन्न हुई है और शासक वर्ग ने शिक्षा उसी हिसाब से ढाला है जिससे यह समाज के स्वामी वर्ग का ज्यादा से ज्यादा हित साधन कर सके। क्योंकि शिक्षा का ढाचा सत्ताधारी वर्ग ही तय करते हैं।

इन तमाम विश्लेषण, तथ्य और आँकड़ों की रोशनी में देश की मौजूदा शिक्षा व्यवस्था का जनतांत्रिक स्वरूप केवल एक ढकोसले के रूप में सामने आता है। यह शिक्षा व्यवस्था आज शिक्षा को बाजारु माल के रूप में बेचने की साजिश रच रही है। वैसे भी जनता के शोषक सत्ताधारियों और उनकी सरकारों से जनकल्याणकारी शिक्षा की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

लेकिन शिक्षा का अधिकार जनता के सबसे बुनियादी नागरिक अधिकारों में से एक है। इसलिए हमें शिक्षा और रोजगार को बुनियादी अधिकार बनाने के लिए संघर्ष करना होगा। क्योंकि यह अहम मुद्दा है और इसके प्रति उपेक्षा का रवैया घातक होगा।

स्मृति संकल्प यात्रा समापन सप्ताह का आयोजन

मार्ग मुक्ति का गढ़ना होगा! सच्चा मानव बनना होगा!

23 मार्च 2005 को शहीदे-आज़म भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के 75वें शहादत वर्ष पर आरम्भ की गयी 'स्मृति संकल्प यात्रा' का 28 सितम्बर 2008 को भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष के समापन और 101वें जन्मदिवस पर समापन कर दिया गया। इस मुहिम के तहत 'दिशा छात्र संगठन' और 'नौजवान भारत सभा' तथा अन्य कई क्रान्तिकारी जनसंगठन पिछले साढ़े तीन वर्षों से देश के अलग-अलग हिस्सों में भगतसिंह और उनके साथियों के विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए तमाम गतिविधियाँ कर रहे थे। इसमें साईकिल यात्रा, पदयात्रा, सांस्कृतिक कार्यक्रम, भगतसिंह के लेखों और उनके विचारों पर आधारित रचनाओं का वितरण, पुस्तक-पोस्टर प्रदर्शनी, विचार-विमर्श चक्र, अध्ययन चक्र, बस अभियान, ट्रेन अभियान आदि शामिल थे। इस दौरान 'स्मृति संकल्प यात्रा' की टोली ने लाखों की संख्या में पूरे भारत में क्रान्तिकारी पत्रों का वितरण किया और भगतसिंह के रास्ते पर चलने के लिए छात्रों, नौजवानों और नागरिकों का आह्वान किया। 'आह्वान' भी इस मुहिम में शुरू से ही शामिल रहा है और इसकी गतिविधियों से पाठकों को निरन्तर अवगत कराता रहा है। दिल्ली में नौभास व दिशा ने स्मृति संकल्प यात्रा का समापन सप्ताह (21-28 सितम्बर) आयोजित किया जिसमें कई कार्यक्रम किये गये। इस मुहिम के समापन के साथ ही एक महत्वपूर्ण पड़ाव तक यात्रा पूरी हुई है और आगे की यात्रा को और जोशो-खरोश से आगे बढ़ाने का संकल्प लिया गया है। -सम्पादक



'आह्वान' के सभी पाठक 'स्मृति संकल्प यात्रा' से भली-भाँति परिचित होंगे। हम विगत अंकों में इस यात्रा से सम्बन्धित सभी

रपटें प्रकाशित करते रहे हैं। जो पाठक इस मुहिम से वाकिफ नहीं हैं उन्हें हम बताना चाहेंगे कि 'दिशा छात्र संगठन' और 'नौजवान

भारत सभा' तथा कुछ अन्य विरादर संगठन पिछले साढ़े तीन साल से एक व्यापक अभियान चला रहे थे। इसी अभियान को स्मृति संकल्प यात्रा का नाम दिया गया था। यह अभियान 23 मार्च 2005 को भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के 75वें शहादत वर्ष के आरम्भ के अवसर पर शुरू किया गया था। इस अभियान का समापन गत 28 सितम्बर को करीब एक दर्जन संगठनों के लगभग 250 कार्यकर्ताओं, मजदूरों, छात्रों, नौजवानों और बुद्धिजीवियों की मौजूदगी में और भगतसिंह और साथी क्रान्तिकारियों की याद में गगनभेदी नारों के साथ किया गया। इन साढ़े तीन वर्षों के दौरान दिशा और नौभास ने देश के विभिन्न हिस्सों में साईकिल यात्राओं, पद यात्राओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पर्चा वितरण, पुस्तक प्रदर्शनी, पोस्टर प्रदर्शनी, झॉकियों, गोष्ठियों, विचार-विमर्श चक्रों, अध्यायन चक्रों और जुलूस आदि का आयोजन किया। इस पूरी यात्रा का मकसद था भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा को जनता की बीच ले जाना और महज़ बहादुर क्रान्तिकारियों के रूप में बनी उनकी छवि के साथ-साथ गम्भीर चिन्तक की उनकी छवि को स्थापित करना; साथ ही, इस यात्रा का मकसद यह था कि उन भूले-बिसरे सपनों और अभियानों को फिर से जीवित किया जाय और व्यापक छात्र-युवा आवादी के साथ ही साथ आम जनसमुदायों को भगतसिंह के विचारों को लागू करने की इस मुहिम का हिस्सा बनाया जाय।

इस यात्रा का समापन 28 सितम्बर 2008 को किया जाना था। इस अवसर पर स्मृति संकल्प यात्रा से जुड़े सभी संगठनों ने दिल्ली में स्मृति संकल्प यात्रा के समापन सप्ताह का आयोजन किया। इस सप्ताह में पूरी दिल्ली में विभिन्न स्थानों पर कई कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।



'बहरों को सुनाने के लिए: भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम' पुस्तक के लोकार्पण समारोह की तस्वीरें

व्याख्यान आयोजित किया गया जिसमें **डा. एस. इरफान हबीब** को वक्ता के रूप में बुलाया गया। ज्ञात हो कि हाल ही में डा. एस. इरफान हबीब ने भगतसिंह पर एक चर्चित पुस्तक लिखी है - **'बहरों को सुनाने के लिए'**। इस व्याख्यान में करीब 150 छात्रों और कुछ शिक्षकों ने भी शिरकत की। डा. हबीब ने कहा कि

प्रकाश विहार में क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्यक्रम से समापन सप्ताह की शुरुआत

21 सितम्बर को समापन सप्ताह की शुरुआत हुई। इस दिन दिल्ली के करावलनगर के प्रकाश विहार नामक मजदूर बस्ती में नौभास के कार्यकर्ताओं ने एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया। इस सांस्कृतिक कार्यक्रम में मजदूरों की ही एक सांस्कृतिक टोली ने नुक्कड़ नाटक और क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की। सफ़दर हाशमी द्वारा लिखित नाटक 'समर्थ को नहीं दोष गुसाई' का मंचन हुआ और 'तोड़ो ये दीवारें', 'तोड़ो बन्धन तोड़ो', 'रउरा सासना के बाटे ना जबाब', और 'बड़ी-बड़ी कोठिया' जैसे हिन्दी व भोजपुरी क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की गई। इस मौके पर नौजवान भारत सभा और बादाम मजदूर यूनियन के वक्ताओं ने मजदूरों को इस बात से वाकिफ़ कराया कि भगतसिंह और उनके साथियों की वास्तविक लड़ाई मजदूरों के हितों के लिए थी और उस लड़ाई को आज के दौर में आगे बढ़ाने का काम भी मजदूर ही कर सकते हैं। भगतसिंह आम मेहनतकशों की ही आज़ादी की बात कर रहे थे और वही उनका लक्ष्य था। आज के समय में मजदूरों का क्रान्तिकारी हरावल दस्ता ही भगतसिंह का सच्चा वारिस हो सकता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय में व्याख्यान का आयोजन

23 सितम्बर को दिशा छात्र संगठन ने दिल्ली विश्वविद्यालय में **'एक क्रान्तिकारी चिन्तक के रूप में भगतसिंह'** विषय पर एक

भगतसिंह जन स्मृतियों में एक बहादुर इंकलाबी के रूप में बसे हुए हैं। लेकिन एक चिन्तक के रूप में उनकी पहचान को दबाया गया है और उन्हें याद करने को महज एक रस्म-अदायगी बना दिया गया है। उनकी तमाम रचनाएँ गायब हो गईं और जो महत्वपूर्ण जेल डायरी हाथ लगी वह भी उनकी शहादत के 63 वर्षों के बाद। भगतसिंह की धारा राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण और सबसे अहम इंकलाबी धारा थी। लेकिन इस पूरी वैचारिक विरासत को दबा दिया गया है। इसे आज के नौजवानों को फिर से उजागर करना होगा और उसे जनता के आम वर्गों के बीच ले जाना होगा। इस व्याख्यान के बाद एक जीवन्त चर्चा हुई जिसमें छात्र-छात्राओं ने डा. हबीब से खूब सवाल पूछे और बातचीत की। इस व्याख्यान स्थल पर ही भगतसिंह के जीवन और विचार यात्रा पर एक झोंकी भी लगी हुई थी। साथ ही एक पुस्तक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था। मंच पर 'दायित्वबोध 1' के सम्पादक और एस. इरफान हबीब की पुस्तक के अनुवादक सत्यम भी मौजूद थे। कार्यक्रम का संचालन दिशा छात्र संगठन के संयोजक अभिनव ने किया।

भगतसिंह पर डा. एस. इरफान हबीब की पुस्तक के हिन्दी संस्करण का लोकार्पण

26 सितम्बर को डा. एस. इरफान हबीब की पुस्तक 'टु मेक द डेफ हियर' के हिन्दी अनुवाद 'बहरों को सुनाने के लिए' का लोकार्पण त्रिवेणी सभागार, नई दिल्ली में किया गया। लोकार्पण आधुनिक भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. सव्यसाची भट्टाचार्य ने किया। इस मौके पर पुस्तक के अनुवादक और 'दायित्वबोध 1' के सम्पादक सत्यम, वरिष्ठ समाजवादी चिन्तक सुरेन्द्र मोहन, चर्चित कवि असद ज़ैदी, डा. एस. इरफान हबीब मौजूद थे। कार्यक्रम



का संचालन दिशा छात्र संगठन के संयोजक अभिनव ने किया। कार्यक्रम की शुरुआत 'शहीदों के लिए' नामक गीत से शहीदों को श्रद्धांजलि देते हुए की गई। इसके बाद प्रो. भट्टाचार्य ने भगतसिंह की धारा पर अपनी बात रखते हुए बताया कि किस तरह भगतसिंह की वैचारिक विरासत को शासन-सत्ता द्वारा किस प्रकार उपेक्षा का सामना करना पड़ा लेकिन भगतसिंह को लेकर पूरे देश की आम जनता के दिल में जो इज्जत और जज़्बा है उसके कारण पिछले कुछ समय से सरकार को भी भगतसिंह पर ध्यान देने के लिए मजबूर होना पड़ा है। पिछले कुछ समय में भगतसिंह की तमाम प्रतिमाओं के अनावरण से लेकर उन पर बनी फिल्मों की बाढ़ सी आ गई थी। साथ ही भगतसिंह पर हाल ही में कई नई पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। लेकिन एस. इरफान हबीब की पुस्तक अपने आप में अनोखी है क्योंकि पूरे ऐतिहासिक शोध और अनुसंधान के साथ भगतसिंह के जीवन और विचारों पर लिखी गई यह अपने किस्म की एकमात्र पुस्तक है। वरिष्ठ चिन्तक सुरेन्द्र मोहन ने 'युगांतर' और 'अनुशीलन' के दौर से भगतसिंह की क्रान्तिकारी धारा के विकास पर बात रखते हुए इस बात पर जोर दिया कि जो बात भगतसिंह को पहले के क्रान्तिकारी आतंकवाद से अलग करती थी, वह यह थी कि वह बम-पिस्तौल की अराधना नहीं करते थे और वास्तव में वह एक जनदिशा को लागू करने के हामी इंकलाबी थे। एस. इरफान हबीब की पुस्तक को पहले अंग्रेजी में छापने वाले 'श्री एसेज़ कलेक्टिव' प्रकाशन के असद ज़ैदी जो एक प्रसिद्ध हिन्दी कवि भी हैं, ने बताया कि इस पुस्तक को छापने का पूरा अनुभव क्या था और साथ ही भगतसिंह के विचारों की प्रासंगिकता आज भी किस तरह बनी हुई है। पुस्तक के अनुवादक सत्यम ने बताया कि भगतसिंह की पूरी धारा पर यह एक अनोखी पुस्तक है और

इसे छात्रों-नौजवानों के बीच खूब पढ़ा जाएगा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भगतसिंह की पूरी धारा पर कुछ लेख व पुस्तिकाएँ तो लिखी गई थीं, लेकिन एक विस्तृत शोध की लम्बे समय से ज़रूरत थी।

भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष और स्मृति संकल्प यात्रा का जन्तर-मन्तर पर विशाल जुटान के साथ समापन

इसके बाद 28 सितम्बर को समापन सप्ताह के आखिरी कार्यक्रम के रूप में **जन्तर-मन्तर** पर मज़दूरों, छात्रों, नौजवानों और क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं का एक महाजुटान किया गया। इस महाजुटान में करीब 250 लोग एकत्र हुए और पूरे समूह ने भगतसिंह और क्रान्तिकारी धारा के तमाम स्वतंत्रता योद्धाओं को याद किया और उनके सपनों को सच बनाने का संकल्प लिया। कार्यक्रम में **'विहान'** ने क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति भी की। सभा की **नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, बादाम मज़दूर यूनियन, नारी सभा, दायित्वबोध मंच, जागरूक नागरिक मंच** के वक्ताओं ने सम्बोधित किया। इस मौके पर हिन्दी की क्रान्तिकारी युवा कवयित्री और नारी सभा की संयोजिका **कात्यायनी** भी उपस्थित थीं। उन्होंने भी सभा को सम्बोधित किया। वक्ताओं ने भगतसिंह के विचारों को सहज रूप में प्रस्तुत किया और दिखलाया कि किस प्रकार आज के समय में भगतसिंह के विचार और भी अधिक प्रासंगिक हो चुके हैं। आज के भारत में मज़दूरों, किसानों, आम छात्रों-नौजवानों और स्त्रियों के जीवन पर रोशनी डालते हुए यह पूछा गया कि इन शोषित-उत्पीड़ित तबकों के लिए किस बात की आज़ादी है। आज़ादी है तो भूखों मरने की, बेरोज़गार घूमने की, कुपोषित होने की, भ्रष्टाचार के हाथों उत्पीड़ित होने



की। ऐसे में, यह एक अहम सवाल बनता है कि यह बेहद खर्चीला और भारी-भरकम "जनतंत्र" आखिर किसके लिए है? यह सिर्फ नवधनिक वर्गों और पूँजीपतियों का जनतंत्र है। आम जनता के लिए यह कफनखसोट और मुर्दाखोरों का शासन है। किसी भी चुनाववाज़ पार्टी की बात कर लें, हर किसी को आजमाया-परखा जा चुका है और अब उन्हें और परखने का कोई तुक नहीं है। सभी वक्ताओं ने कहा कि अब समय इलेक्शन का नहीं बल्कि इंकलाब की तैयारियों का है। बेशक यह एक लम्बी और मुश्किल राह है लेकिन यही एकमात्र राह है। आज आम जनता के बेटे-बेटियों को यह ज़िम्मेदारी उठानी होगी कि वे मज़दूरों और किसानों के सपनों और आकांक्षाओं से खुद को जोड़ें और उनके आन्दोलन में अपना वर्ग रूपान्तरण करते हुए उतर पड़ें और अपना पूरा जीवन एक मानवकेन्द्रित, न्यायपूर्ण और समानतामूलक समाज और व्यवस्था के निर्माण में लगा दें; एक ऐसी व्यवस्था जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक हो और फैसला लेने की ताकत उनके हाथों में हो; एक ऐसी व्यवस्था में जिसमें सभी गतिविधियों की प्रेरक शक्ति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो न कि मुनाफा हासिल करने की हवस। एक ऐसी व्यवस्था ही इस देश के मेहनतकश अवाम को एक इज़्ज़त और आसूदगी की ज़िन्दगी दे सकती है। यही भगतसिंह का सपना था और इसे पूरा करना ही आज के नौजवानों का फर्ज़ बनता है। स्मृति संकल्प यात्रा का समापन एक चरण का समापन है, इस पूरी मुहिम का समापन कतई नहीं। इस समापन के बाद और जोरदार शुरुआत करनी है, किसी नये अभियान की, किसी नई मुहिम की। क्योंकि अभी इस कारवाँ को काफी लम्बा रास्ता तय करना है। इसके बाद भगतसिंह को याद करते हुए गगनभेदी नारों के साथ कार्यक्रम का समापन कर दिया गया।

फलस्तीनी मुक्ति संघर्ष के अमर गायक महमूद दरवेश नहीं रहे

● आशीष



फलस्तीनी अवाम के दुख और पीड़ा को अपनी कविताओं के जरिये आवाज़ देने वाले जाने-माने कवि महमूद दरवेश का 9 अगस्त 2008 को निधन हो गया। वे 67 वर्ष के थे। जीवन भर मुक्ति-योद्धा की तरह जूझने वाला महमूद दरवेश महज कवि नहीं था। उसकी पहचान फलस्तीनी राष्ट्र की आज़ादी की चाहत रखने वाले अगुआ सिपाहियों में की जाती है।

महमूद दरवेश का जन्म 13 मार्च 1942 को उक्का के अलबिखा में हुआ था। तब वह फलस्तीन का हिस्सा था। अब इजराइल में है। महमूद दरवेश की उम्र महज सात वर्ष की ही थी कि उनके प्यारे वतन पर यहूदीवादियों का कहर टूट पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की काली करतूतों के चलते तमाम फलस्तीनियों को बेघरबार होकर जगह-जगह भागना पड़ा। 1948 में फलस्तीन की ज़मीन पर जबरिया एक नये यहूदी राज्य को पैदा किया गया जिसका नाम इजराइल है। आज यह एक आतंकवादी राज्य के रूप में मौजूद है। इसे हम अमेरिकी लठैत कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लाखों-लाख फलस्तीनियों की तरह महमूद दरवेश का परिवार भी अपनी जगह जमीन से उजड़ गया। अपने शहर से बेदखल होकर महमूद दरवेश का परिवार लेबनान में रहने लगा।

वहीं उनकी बुनियादी तालीम की शुरूआत हुई। उनकी पढ़ाई-लिखाई सोवियत यूनियन में पूरी हुई। बचपन से ही महमूद दरवेश जिस आबो-हवा में पले-बढ़े उसका उनके ज़ेहन पर गहरा असर पड़ा। फलस्तीनियों की अपने राष्ट्र की मुक्ति की खातिर कसमसाती मुठिठयाँ व यहूदीवादियों का सरेआम नंगनाच ये वो नज़ारे थे जिन्हें देखते हुए महमूद दरवेश बड़े हुए। ऐसे में कोई नौजवान अपने आस-पास के हालात से कटा कैसे रह सका है और रह गया तो नौजवान कैसा?

युवा दरवेश राजनीतिक गतिविधियों में शामिल होने लगे। वह इज़राइली कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने। सार्वजनिक कविता पाठ करके दरवेश अवाम की मनोव्यथा को जुबान देने लगे। निर्वासितों की पीड़ा शब्दों में ढलने लगी। उन्होंने उम्मीद भरे शब्दों में बोलना शुरू किया कि अब तक का मानव समाज तमाम आततयियों को देख चुका है, उन्हें जमींदोज कर चुका है और इनका भी भविष्य वही होगा।

अपनी जलती आँखों

और रक्तिम हाथों को बनाओ

रात जायेगी

कोई कैद : कोई जंजीर नहीं रहेगी

नीरो मर गया था रोम नहीं

वह लड़ा था अपनी आँखों से

एक सूखी हुई गेहूँ की बाली के बीज

भर देंगे खेतों को

करोड़ों-करोड़ हरी बालियों से

जनआन्दोलनों में भागीदारी व राजनीतिक सक्रियता के चलते महमूद दरवेश इज़राइली शासक वर्गों की नजरों में चुभने लगे। उनकी कवितायें भी दुश्मन की आँखों में आँखे डालकर सीधे बात जो कह रही थी। परिणामस्वरूप उनके साथ भी वहीं फार्मूला अपनाया गया जो किसी भी देश का शासक वर्ग जनता की जुबान बोलने वाले शख्स के साथ अपनाता है। नज़रबन्दी। जेल की सलाखें। निर्वासन आदि-आदि। और अपने जीवन का बड़ा हिस्सा महमूद दरवेश ने निर्वासन में बिताया। इस प्रकार उनकी कविता का प्रमुख सरोकार बना।

1987 में वे PLO की कार्यकारिणी में चुने गये। PLO (फलस्तीनी मुक्ति संगठन) की कार्यकारिणी में महमूद दरवेश का महत्व इसी से समझा जा सकता है कि 1988 में यासर अराफ़ात ने जो ऐतिहासिक 'आज़ादी का घोषणापत्र' पढ़ा था वह दरवेश का ही लिखा हुआ था। वे पी.एल.ओ. की मासिक पत्रिका के सम्पादक और संगठन के रिसर्च डायरेक्टर भी रहे। लेकिन 1993 में ऑस्लो

समझौते के विरोध में उन्होंने कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। उनकी निगाह में फलस्तीनी हकूमत ने यह समझौता करके फलस्तीनी हितों को तिलांजलि दे दी थी।

एक तरीके से यह बगावत थी खुद अपने नेताओं की समझौतापरस्ती व कमजोरी के खिलाफ, जिसका नया रूप सन् 2000 से फलस्तीनी नौजवानों के नये इतिफादा के रूप में सामने आता है जो सात सालों से जारी नकली “शान्ति वार्ताओं” से ऊब चुके थे। “शान्ति वार्ताओं” के नाम पर लगातार इज़राइल उनकी जमीन हड़पता गया और वहां अवैध “बस्तियाँ” बसाता गया। ऐसे में फलस्तीनी अवाम जो आज संघर्ष का प्रतीक बन चुका है, कब तक पाखण्डपूर्ण आश्वासनों के सहारे बैठता। आखिर क्यों?

फलस्तीन की 70 प्रतिशत आबादी 30 वर्ष से कम उम्र की है यानी नौजवान है, सपना देखती है। और सपने देखना नौजवान बने रहने के लिए ज़रूरी है। उनसे उनके सपने छीन लिए गये हैं। फौजी बूटों तले जिनकी उम्मीद को कुचला जा रहा हो, जहाँ 60 प्रतिशत आबादी बेरोज़गार हो। वह चुपचाप बैठकर अपने कल्ल होने का इंतज़ार नहीं कर सकती। वह स्वतंत्र फलस्तीनी राष्ट्र का सपना देखती है। सपने को यथार्थ में बदलने की खातिर संघर्षरत है। महमूद दरवेश के शब्दों में कहा जाये तो -

**कब तक पैदा होते रहेंगे बच्चे
बगैर किसी देश के, बगैर बचपन के
वह सपने देखेगा अगर कोई सपना देख सके
और धरती विदीर्ण है**

महमूद दरवेश की कविता दरअसल फलस्तीनी सपनों की कविता है। उनकी कविता अपने लोगों की आवाज़ है जो बेइंतहा तकलीफ़, निर्वासन, दहशत और उम्मीद और सपनों से रची गयी है। फलस्तीनी कविता के बारे में उनका कहना था कि इसका महत्व हमारी धरती के कण-कण से इसके घनिष्ठ सम्बन्ध में निहित है इसके पहाड़ों, घाटियों, पत्थरों, खण्डहरों और यहाँ के लोगों के सम्बन्ध में जो अपने कंधों पर भारी बोझ और अपनी कलाइयों तथा आकांक्षाओं पर कसी जंजीरों के बावजूद सिर उठाकर आगे बढ़ रहे हैं। यही प्रतिरोध का तत्व फलस्तीनी जनता की पहचान है, महमूद दरवेश की कविता की पहचान है।

महमूद दरवेश की ज़्यादातर कविताओं का अनुवाद दुनिया की अन्य भाषाओं में हो चुका है, जिसने अरबी भाषा की कविता को एक पहचान दिलायी है। वे 1970 में दिल्ली में आयोजित अफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन में शामिल होने भारत भी आये थे। इस मौके पर उनके कृतित्व को लोटस पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया था। उन्हें स्टालिन शान्ति पुरस्कार से पुरस्कृत किया जा चुका है। दरवेश की पूरी ज़िन्दगी और उनकी कविता फलस्तीनी मुक्ति संघर्ष से नाभिनालबद्ध है। उससे काटकर देख पाना कठिन है। हमें ऐसे बहादुर कवि पर नाज़ है।

हम अरबी भाषा के इस महत्वपूर्ण हस्ताक्षर को याद करते हुए फलस्तीनियों के संघर्ष से एकजुटता जताना चाहते हैं। ऐसी ही प्रतिरोधी कविता जो जनमानस के दिल को आलोड़ित कर दे, हमारी ज़रूरत है। वह दुनिया के तमाम दबे-कुचले अवाम की साझी विरासत है। उनकी अपनी मुक्ति की आवाज़ है। ‘आह्वान टीम’ की ओर से महमूद दरवेश को श्रद्धांजलि देते हुए हम उनकी कुछ कविताएँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

कवितायें

एक आदमी के बारे में

उन्होंने उसके मुंह पर जंजीरे कस दी
मौत की चट्टान से बांध दिया उसे
और कहा- तुम हत्यारे हो
उन्होंने उससे भोजन, कपड़े और
अण्डे छीन लिए
फेंक दिया उसे मश्रु-कक्ष में
और कहा- चोर हो तुम
उसे हर जगह से भगाया उन्होंने
प्यारी छोटी लड़की को छीन लिया
और कहा- शरणार्थी हो तुम
शरणार्थी
अपनी जलती आंखों
और रक्तिम हाथों को बताओ
रात जायेगी
कोई कैद, कोई जंजीर नहीं रहेगी
नीरो मर गया था रोम नहीं
वह लड़ा था अपनी आंखों से
एक सूखी हुई गेहूं की बाली के
बीज भर देंगे खेतों को
करोड़ों- करोड़ों हरी बालियों से

शोक गीत

हमारे देश में
लोग दुखों की कहानी सुनाते हैं
मेरे दोस्त की
जो चला गया
और फिर कभी नहीं लौटा

उसका नाम.....
नहीं उसका नाम मत लो
उसे हमारे दिलों में ही रहने दो
राख की तरह हवा उसे बिखेर न दे
उसे हमारे दिलों में ही रहने दो
यह एक ऐसा घाव है जो कभी भर नहीं सकता
मेरे प्यारो, मेरे प्यारे यतीमों
मुझे चिन्ता है कि कहीं
उसका नाम हम भूल न जायें
जाड़े की इस बरसात और आंधी में
हमारे दिल के घाव कहीं सो न जाये
मुझे भय है।

उसकी उम्र

एक कली जिसे बरसात की याद तक नहीं
चांदनी रात में किसी महबूबा को
प्रेम का गीत भी नहीं सुनाया
अपनी प्रेमिका के इंतजार में
घड़ी की सुइयों तक नहीं रोकी
असफल रहे उसके हाथ दीवारों के पास उसके लिए
उसकी आंखें उददाम इच्छाओं में कभी नहीं डूबीं
वह कभी किसी लड़की को चूम नहीं पाया
वह किसी के साथ नहीं कर पाया इश्कबाजी
अपने जिन्दगी में सिर्फ दो बार उसने आहें भरी
एक लड़की के लिए
पर उसने कभी कोई खास ध्यान ही नहीं दिया उस पर
वह बहुत छोटा था
उसने उसका रास्ता छोड़ दिया
जैसे उम्मीद का

हमारे देश में लोग उसकी कहानी सुनाते हैं
जब वह दूर चला गया
उसने माँ से विदा नहीं ली
अपने दोस्तों से नहीं मिला
किसी से कुछ कह नहीं गया
एक शब्द तक नहीं बाल पाया
ताकि कोई भयभीत न हो
ताकि उसकी मुंताजिर माँ की
लम्बी रातें कुछ आसान हो जायें
जो आजकल आसमान से बातें करती रहती है
और उसकी चीजों से
उसके तकिये से, उसके सूटकेस से
बेचैन हो-होकर वह कहती रहती है
अरी ओ रात, ओ सितारों, ओ खुदा, ओ बादल
क्या तुमने मेरी उड़ती चिड़िया को देखा है
उसकी आंखें चमकते सितारों सी है
उसके हाथ फूलों की डाली की तरह है
उसके दिल में चांद और सितारे भरे हैं
उसके बाल हवाओं और फूलों के झूले हैं
क्या तुमने उस मुसाफिर को देखा है
जो अभी सफर के लिए तैयार ही नहीं था
वह अपना खाना लिए बगैर चला गया
कौन खिलायेगा उसे जब उसे भूख लगेगी
कौन उसका साथ देगा रास्ते में
अजनबियों और खतरों के बीच
मेरे लाल, मेरे लाल

अरी ओ रात, ओ सितारे, ओ गलियों, ओ बादल
कोई उसे कहे
हमारे पास जवाब नहीं है
बहुत बड़ा है यह घाव

आंसुओं से, दुखों से और यातना से
नहीं बर्दाश्त नहीं कर पाओगी तुम सच्चाई
क्योंकि तुम्हारा बच्चा मर चुका है
माँ,
ऐसे आंसू मत बहाओ
क्योंकि आंसुओं का एक स्रोत होता है
उन्हें बचाकर रखो शाम के लिए
जब सड़कों पर मौत ही मौत होगी
जब ये भर जायेंगी
तुम्हारे बेटे जैसे मुसाफिरों से
तुम अपने आंसू पोंछ डालो
और स्मृति चिह्न की तरह सम्भालकर रखो
कुछ आंसुओं को
अपने उन प्रियजनों के स्मृतिचिह्न की तरह
उन शरणार्थियों के स्मृतिचिह्न की तरह
जो पहले ही मर चुके हैं
माँ अपने आंसू मत बहाओ
कुछ आंसू बचाकर रखो
कल के लिए
शायद उसके पिता के लिए
शायद उसके भाई के लिए
शायद मेरे लिए जो उसका दोस्त है
आंसुओं की दो बूंदें बचाकर रखो
कल के लिए
हमारे लिए

हमारे देश में

लोग मेरे दोस्त के बारे में
बहुत बातें करते हैं
कैसे वह गया और फिर नहीं लौटा
कैसे उसने अपनी जवानी खो दी
गोलियों की बौछारों ने
उसके चेहरे और छाती को बीध डाला
बस और मत कहना
मैंने उसका घाव देखा है
मैंने उसका असर देखा है
कितना बड़ा था वह घाव
मैं हमारे दूसरे बच्चों के बारे में सोच रहा हूँ
और हर उस औरत के बारे में
जो बच्चागाड़ी लेकर चल रही है
दोस्तो, यह मत पूछो वह कब आयेगा
बस यही पूछो
कि लोग कब उठेंगे

बाढ़ : मानव-जनित आपदा नहीं, व्यवस्था-जनित आपदा

● लता

भारत में मानसून के आने के साथ ही देश के विभिन्न हिस्सों से बाढ़ और उससे होने वाली जान-माल की क्षतियों की खबरें आने लगती हैं। सरकारी मंत्रियों की हवाई यात्राओं का सालाना अनुष्ठान शुरू हो जाता है। नेताओं की आरोपों-प्रत्यारोपों की गन्दी राजनीति शुरू हो जाती है। और इन सब के बीच रह जाती है आम जनता की परेशानियाँ, तबाही और दुःख। बाढ़ हर साल हजारों ज़िन्दगियों को लील जाती है। कई हजार हेक्टेयर फसलों की बर्बाद हो जाती हैं। इस वर्ष बिहार सहित देश के विभिन्न हिस्सों में बाढ़ आई है। बीस राज्यों में बारह सौ से अधिक लोग बाढ़ की वजह से मारे गए हैं। तीन करोड़ लोग विस्थापित हुए हैं। सत्तर हजार से अधिक मवेशी बह गए हैं।

बिहार राज्य में कोसी नदी से आई बाढ़ ने इस वर्ष सबसे ज्यादा तबाही मचाई है। इस वर्ष कोसी ने अपना रास्ता 120 किमी पश्चिम की ओर बदल लिया जिसकी वजह से सहरसा, मधेपुरा, सुपौल, कटिहार और खगड़िया समेत ग्यारह जिले बाढ़ की चपेट में आ गए। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक बीस लाख लोग बाढ़ प्रभावित हुए हैं और सौ जाने गई हैं। लेकिन ये आँकड़े बेहद सतही हैं। 480 गांव पूरी तरह जलमग्न हैं। कई हजार लोग लापता हैं। मरनेवालों की संख्या का कुछ अंदाजा पानी के उतरने के बाद ही लगाया जा सकता है। इस तरह की किसी भी आपदा की सबसे ज्यादा मार औरतों और बच्चों को झेलनी पड़ती है। सुरक्षित जगहों पर ले जाने के नाम पर कई औरतों और लड़कियों को अगवा कर लिया गया है। बच्चे-बड़े सभी भूखे-प्यासे बाढ़ के पानी के उतरने का इन्तज़ार कर रहे हैं ताकि उन्हें पता चल सके कि उनके स्वजन-परिजन कहाँ हैं, या हैं भी या नहीं। हर साल के अपने अनुभव के आधार पर वे सरकारी सहायता के प्रति उदासीन हैं।

मीडिया और सरकार के तमाम भोंपू कोसी में आई बाढ़ का आरोप नेपाल पर लगा रहे हैं। साथ ही कोसी को एक स्वच्छन्द नदी के रूप में प्रदर्शित करने में लगे हैं जिस पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। इन दोनों ही कारणों का इस्तेमाल सरकार अपनी लापरवाहियों और गैरज़िम्मेदारियों को छुपाने के हथियार के तौर पर कर रही है। कहा जा रहा है कि नेपाल द्वारा पानी छोड़े जाने के कारण और बांध की मरम्मत के लिए गए इंजीनियरों को नेपाली प्रशासन का सहयोग और वहाँ हड़ताल कर रहे मज़दूरों की मदद न मिल पाने की वजह से बांध की मरम्मत नहीं हो पाई और इसलिए बाढ़ आई। यह बात बिल्कुल सही है कि भारत के इंजीनियर नेपाल से बांध की मरम्मत किए बिना लौटे लेकिन इसलिए नहीं कि नेपाली प्रशासन और मज़दूरों का सहयोग नहीं मिला, बल्कि

इसलिए कि काफी देर हो चुकी थी। तब इसकी मरम्मत सम्भव ही नहीं थी। नेपाल में बने कुशाहा बांध की मियाद 1976 में पूरी हो गई थी। यह कल्पना के परे है कि 1976 में मियाद पूरी होने के बाद भी कैसे बिहार में बनने वाली तमाम सरकारें सोई रहीं। आज लालू यादव किस तरह नितीश की सरकार पर आरोप लगा रहे हैं? उनकी सरकार ने तो सबसे लम्बे समय तक बिहार में शासन किया है। क्या उस दौरान कभी कोसी में बाढ़ नहीं आई? मरम्मत नहीं होने की वजह से पहले तो बांध में दो सौ मीटर की दरार पड़ी फिर चार सौ मीटर की और उसके बाद यह दायरा तीन किलोमीटर के क्षेत्र में फैल गया। यह थी सरकार की दीर्घकालिक लापरवाही। तात्कालिक लापरवाहियों और गैरज़िम्मेदारियों की बात करें तो समझ में आ जाएगा कि इस व्यवस्था के लिए आम लोगों की जिन्दगियाँ कितनी मायने रखती हैं। सरकार को बाढ़ के आने की सूचना मिल गई थी। लेकिन 18 अगस्त को जब बांध में दरार पड़ी तो भी सरकार की कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। होना ये चाहिए था कि बाढ़ की खबर मिलते ही लोगों को सुरक्षित स्थानों पर ले जाने का काम शुरू कर देना चाहिए था। बजाए इसके यह विनाश के आने का इन्तज़ार करती रही और 18 अगस्त को पड़ी दरार के चार दिनों बाद राज्य सरकार ने इलाके के गाँवों में सुरक्षित जगहों पर जाने की मुनादी करवा कर अपने कर्तव्य को पूरा किया। लेकिन जब कोसी ने भारत की सीमा पर आ कर अपना रास्ता बदल लिया और बिहार के वे क्षेत्र बाढ़ की चपेट में आ गए जिन्होंने कभी कोसी की तबाही नहीं देखी थी। इन इलाकों में लोगों को सुरक्षित जगहों पर ले जाने के लिए नावों का इंतजाम नहीं था। बिहार सरकार जो नेपाल पर दोषारोपण कर रही है 18 अगस्त के कुछ पहले ही उसने यह कहा था कि बराज सही अवस्था में है और इसे कोई खतरा नहीं है। तो इसमें दरार कैसे आ गई? जिन इलाकों में बाढ़ आई वहाँ नावों का इन्तज़ाम नहीं था। जो कुछ मोटरबोटों का काम पर लगाई गई उन पर दबंगों ने कब्ज़ा कर लिया और लोगों को सुरक्षित स्थानों पर ले जाने के लिए 500 से 6000 हजार तक की रकम उसूल रहे थें। हेलीकॉप्टरों द्वारा गिराए जा रहे अनाजों और दवाइयों के पैकेट ज़्यादातर पानी में गिरकर बर्बाद हो जा रहे हैं। राहत और सुरक्षा शिविरों का भी हाल कोई संतोषजनक नहीं है। इन शिविरों के उद्घाटन के ताम-झाम में काफी पैसे खर्च किये जा रहे हैं और लोगों को उद्घाटन होने तक का इन्तज़ार करने को कहा जा रहा है और तब उन्हें इन शिविरों में जाने को मिल रहा है। स्वयंसेवी संस्थाएँ आ रहीं हैं और अपना पिकनिक मना कर चली जा रही हैं। अभी भी हजारों लोग बाढ़ में फँसे हैं, सरकार, प्रशासन उन्हें बचाने का कितना प्रयास

कर रही है इसका अनुमान अब तक की जानकारी के आधार पर लगाया जा सकता है।

इस बीच लगातार हमारे कानों में कोसी के ताण्डव की बात पड़ती रही है। क्या वाकई कोसी पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता? क्या इसका मार्ग इतना अप्रत्याशित है? क्या वाकई कोसी के बाढ़ की समस्या का कोई समाधान नहीं है? बार-बार, लगातार इन बातों को सुन कर एक बार को तो लगने लगता है कि शायद इन बातों में कोई सच्चाई होगी। यदि पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में सोचा जाए तो निश्चित ही यह असंभव लग सकता है। क्योंकि बाढ़ से बचने के तमाम उपाय दीर्घकालिक योजनाओं की माँग करते हैं। जिनका तात्कालिक तौर पर मुनाफे के रूप में कोई फायदा नहीं होगा। पूँजीवादी तंत्र इस तात्कालिक मुनाफे में इस कदर डूबा होता है कि ऐसी किसी भी योजना में वह पूँजी निवेश नहीं करना चाहता जिसका फायदा ठोस रूप में न मिले या देर से मिले। उसे तुरत-फुरत मुनाफा चाहिए। ऐसा करना दरअसल पूँजीपतियों की मजबूरी भी है। कारण यह है कि कोई पूँजीपति यदि जनता की आवश्यकताओं का लिहाज़ करते हुए ऐसी किसी दूरगामी और दीर्घकालिक योजना में पैसा लगाता है जिसका 'रिटर्न' उसे तत्काल नहीं मिलना है, तो बाज़ार में उसकी प्रतिस्पर्धा में खड़ा पूँजीपति उसे निगल जाएगा। ऐसे में निजी मालिकाने पर

आधारित पूँजीवादी गलाकटू प्रतिस्पर्धा की अराजकता में जनता का भारी हिस्सा लुटता-पिटता और तबाह होता रहता है। बिहार की बाढ़ प्रभावित जनता इसका ज्वलंत उदाहरण है।

1954 में गठित गंगा आयोग की ऐसी कई बहुउद्देशीय योजनाओं की सिफ़ारिश की थी जिससे कोसी के नकारात्मक पहलुओं को सकारात्मक करकों में बदला जा सकता था। ऐसी ही एक योजना थी 'जलकुण्डी योजना' जिसके तहत नेपाल बांध बना कर इस नदी के द्वारा लाए जा रहे सिल्ट (गाद) को वहीं रोक दिया जाना था और इस बांधों पर विद्युत परियोजनाएं लगाने की योजना थी। इसका लाभ दोनों ही देश, नेपाल और भारत उठाते। लेकिन इन योजनाओं को कभी अमल में नहीं लाया गया। तब इस योजना की लागत 33 करोड़ थी और आज यह इसकी लागत 150 करोड़ से है तब भी बाढ़ नियंत्रण पर पानी की तरह बहाए जाने वाले करोड़ों रुपयों से कम है। 1976 में पर्यावरणविद नदियों पर बनाए जा रहे बांधों के विरोधी हैं, तकनोलॉजी को अभिशाप मानते हैं और 'बैक टू नेचर' का नारा देते हैं। लेकिन तकनोलॉजी अपने आप में अभिशाप नहीं होती। यह इसपर निर्भर करता है कि इसका इस्तेमाल किस लिये किया जा रहा है। एक मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था में बड़े बांध अभिशाप हो सकते हैं। लेकिन एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था में यह वरदान भी साबित हो सकते हैं।

पाठक मंच

(पेज 12 से जारी)

घूमता रहता है और बोर करता है। पर दोस्त मैं ऐसा हरगिज नहीं चाहता पर मेरे आस-पास और कोई है भी तो नहीं सिवाय तुम्हारे और अपनी बहन के। तुम दोनों ही हो जो सिर्फ हिम्मत ही नहीं देते होसला व तकनीक भी देते हो। थैंक्स यार! मैं जानता हूँ तुम्हीं लोग हो मेरे सच्चे साथी और उनमें भी तुम सर्वश्रेष्ठ हो।

तुम्हें बताया था न कि मेरा डॉक्टर जिससे मेरी दवाई आया करती है जिसके काबू में कुछ भी नहीं है। बस मेरे जन्मदाता की और भगवान की दुहाई देता है और फिर खुद ही कहता है मुझे कि तू तो नास्तिक है!

डॉक्टर मुझे बोला :- 'हमारे शरीर में कार्टिलेज नाम की कोई चीज ही नहीं होती है।' वो मुझसे बिना सिर-पैर की बहस करता रहता है। फिर कहता है कि कई सारे बड़े-बड़े सर्जन के साथ भी बहस कर सकता हूँ, मैं बोला बहस तो वह लोग भी करते थे जो कहते थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूरज उसके चारों ओर घूमता है। पर उन सभी बकवासों को गलत साबित होना पड़ा।

चलो यार, यह सब अपने बारे में बातें तो हम करते ही रहेंगे अब काम की बातें भी साथ-साथ करते हैं।

तो ऐसा है कि मैंने तुम्हें बताया था न कि वाटर सप्लाय एंड ट्यूबवेल ऑपरेटर एंड इलेक्ट्रिसिटी पावर हाउस इंचार्ज के काम के लिए 10वीं, 12वीं, आई.टी.आई और डिप्लोमा वाले लड़कों को ठेकेदारों की नौकरी पर रखा जाता है। वेतन मिलता है 1800 से 2200 रुपये। फिर एक साथ कई सारे नौजवानों को नौकरी से निकाल दिया जाता है और उनकी एक-दो महीनों की तनखाह भी रोक दी जाती है जो कभी नहीं दी जाती। जब मैंने कुछ लोगों से मिल कर, जैसे कि उन कुछ निकाले गए युवकों से, और बीच के

कुछ दलाल जो ठेकेदारों तक इन लेबर की सप्लाय करते हैं, उनसे मिल कर कुछ जानकारी बटोरनी चाही तो कुछ इस तरह की बातें सामने आई हैं :-

सवाल

1. कितने मज़दूरों को निकाला गया है?
2. कितनों का कितना-कितना पैसा रुका है?
3. कारण क्या बताया गया?

जवाब

1. लगभग 40 लड़कों को निकाला गया है।
2. पैसा तो लगभग सभी का कुछ न कुछ रुका ही है।
3. कारण हैं :-

क. नया ठेका नए ठेकेदार को मिला है।

ख. पुराने लड़कों पर चोरी और कामचोरी का आरोप है।

ग. नए ठेके के अनुसार इनके पास अनुभव व योग्यता का अभाव है। Now the technical qualification is a must.

यह सब तो बस दिखावा है जबकि हकीकत तो यह है कि अपनी ज़रूरत पूरी करने के समय पर तो किसी भी under matric को भी काम में लगा लेते हैं। फिर मौका पाते ही उसके साथ भी यही सब कुछ होता है।

घ. कुछ उपकरणों को खराब कर देने का आरोप है।

मेरा मोबाइल चोरी हो गया है, दरअसल मैं एक दिन Sunday morning में क्रिकेट खेलने गया था बस वही एक भांजे को दिया था और बस...

मैं इसकी FIR दर्ज करवा चुका हूँ।

मैं जिस कम्प्यूटर कोर्स की ट्रेनिंग पर आया था वह तो पूरा होने पर भी कम्प्यूटर सेंटर का मालिक मेरे सर्टिफिकेट्स मुझे नहीं दे रहा है। वह मुझे अपने सेंटर पर भी कभी नहीं मिलता। अगर मैंने उस दिन (दिल्ली-द्वारका) में उसके कॉल सेन्टर की पोल न

खोली होती तो मुझे बिना क्लास लगाये, बिना ट्रेनिंग के भी मेरे सर्टिफिकेट्स मिल जाते, जैसे औरों को मिलते हैं। But don't worry I'll try to do my best.

मैं अगस्त 13 को दिल्ली आ रहा हूँ पाँच-सात दिनों के लिए। 'आह्वान' व 'बिगुल' मुझे नियमित प्राप्त हो रहे हैं। कुछ लिखने-पढ़ने की भी कोशिश करता रहता हूँ। बहुत तरह-तरह के जतन करने पड़ते हैं खुद को ज़िन्दा रखने के लिए। एक साथ कई चीज़ों से लड़ना पड़ता है, बेरोजगारी, निकम्पापन, उदासी, निराशा और शरीर का रोग है। मेरा शरीर धोखेबाज है। यह मुझे इस ज़िन्दगी की दौड़ में शामिल कर लेता है, पर न तो जीतने देता है न हारने। मैं भी हर बार उठने की कोशिश करता रहता हूँ जबकि मैं भी जानता हूँ कि मैं ये दौड़ जीत नहीं सकता पर फिर भी मैं हर बार दौड़ता हूँ जीतने के लिए नहीं, पहला स्थान पाने के लिए भी नहीं, बल्कि अपने आत्मसम्मान को बचाने के लिए, अन्तिम स्थान पर आने के कलंक से बचने के लिए।

इस बहुत तेज़ रफ़्तार दुनिया में लगता है कि कई बार मैं कहीं पीछे छूट गया हूँ पर एक आवाज़ मेरे अन्दर से आ जी जाती है कि :-

*"इस ज़िन्दगी की दौड़ में वो दूर तक दौड़े हैं
पर गिर-गिर के उठे हम ज्यादा है।"*

अभी-अभी मुझे उदास पाकर घर वालों ने कुछ पैसे दिये जो मैं सहयोग राशि के रूप में भेज रहा हूँ।

दोस्त! मेरी ज़िन्दगी कोई रेस नहीं। ज़िन्दगी एक सफ़र है और इसे मैं अपने दम पर पूरा करने के लिए बाध्य हूँ।

जीत-हार फिर किसने देखी, जब लड़ने का इरादा है।

मौत को वापस जाना है, 'संजीदा' जीने पर आमादा है।

अमित की आत्महत्या एक बर्बर समाज और व्यवस्था द्वारा की गयी हत्या है!

दोस्तो

अभी-अभी आपने पत्र पढ़कर समाप्त किया। इसमें एक नौजवान की व्यथा है और अपने लोगों के बारे में संवेदना। उम्मीद भरी निगाहों से अपनों की तलाश करता यह नौजवान लोगों के दुःख-दर्द को बाँटना चाहता है। ज़िन्दगी के सफ़र में रेस की तरह नहीं बामकसद जीने की तमन्ना पाले हुए है। अमित नाम का यह नौजवान पिछले तीन साल से 'आह्वान' पत्रिका का पाठक है। आज यह लिखते हुए मन कचोटता है कि अब अमित हमें कभी पत्र नहीं लिखेगा। अब वह हमारे बीच नहीं है। खुदगर्ज़ी भरे ताने-बाने में एक संवेदनशील नौजवान अपनी जगह नहीं तलाश सका। और अन्ततः उसने मौत का रास्ता अख़्तियार किया। विगत 17 सितम्बर की दोपहर को अमित ने अम्बाला कैट में ट्रेन की नीचे आकर अपना जीवन समाप्त कर लिया। आत्महत्या करने के ठीक पहले अमित ने अपनी बहन गीतांजलि को एस.एम.एस. करके बताया था कि "U dont knw my energy level n wish to living is zero. I really want death n peace. This is not my kind

of world." आख़िर इतनी गहरी निराशा का कारण क्या है कि जीने की चाह ही खत्म हो जाये? दुनिया से पूरी तरह से मायूस होकर महज 27 साल का नौजवान ऐसा कठोर निर्णय ले लेता है। कि ये दुनिया मेरे जैसे लोगों के लिए नहीं है।

अमित 'आह्वान' को नियमित पत्र लिखता था। उसके पत्रों/कविताओं में हमें एक नौजवान की गहरी जिजीविषा व जीवन जीने का उद्दाम आवेग दिखता था। वहीं हमें उसकी बातों में एक टीस लगातार मिलती थी, जीवन की सार्थकता को लेकर। ऐसे भी ज़िन्दगी दुरुह हो जाती है। कितना भयावह है जब दुनिया से इस कदर नाउम्मीदी पैदा हो जाये। यही अमित के साथ हुआ और अमित जैसे तमाम-तमाम नौजवानों के साथ हो रहा है। चौतरफा संवादाहीनता का माहौल पसरा है। किससे अपनी बात कहें? अगर हमारा आपसे फायदा नहीं तो हमारा आपसे कोई रिश्ता नहीं। आज के समाज में रिश्तों की यही वास्तविकता है। पूँजीवादी समाज का अलगाव और बेगानापन दोस्तियों को दीमक की तरह चाट जा रहा है और अन्दर से खोखला बना दे रहा है।

ये ठण्डी हत्यायें हैं। एक सड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था द्वारा की गयी हत्यायें, जिसमें अगर कोई नौजवान संवेदनशील है, वो देश के कमजोर तबके के साथ सरोकार रखता है, कहीं कुछ गलत दिखने पर तो आवाज़ उठाता है, और जिसका एकमात्र मकसद सिर्फ यह नहीं कि किसी भी तरह एक-दूसरे को लांघकर बस आगे बढ़ा जाये, उसके लिए इस समाज में कोई जगह नहीं। उसे असामाजिक और अक्षम घोषित कर दिया जाता है उससे अजीब तरह का व्यवहार किया जाता है। ऐसे में अगर किसी नौजवान के सामने कोई रास्ता न दिखे और वह अपनी लड़ाई को सबके साथ जोड़ नहीं पाता है तो अपने आपको निरुपाय और असहाय महसूस करता है यही चीज़ उसे अलगाव में डाल देती है। इसलिए ये वो हत्यायें हैं जो भूख/अभाव के चलते नहीं बल्कि संवेदनहीन, ठहरावग्रस्त सामाजिक जकड़बन्दी के चलते हो रही हैं।

अमित जीना चाहता था, तमाम सपनों और उम्मीदों के साथ। अपने दोस्तों में खुशदिल व्यक्ति के तौर पर मशहूर अमित कोई लखड़ विद्यार्थी नहीं था। वह दसवीं की परीक्षा पास करने के बाद विज्ञान संकाय से इण्टरमीडियट की पढ़ाई कर रहा था कि इसी दौरान शारीरिक दिक्कत के चलते (जो कालान्तर में गम्भीर बीमारी बनी) 12वीं की परीक्षा नहीं दे सका। फिर भी पढ़ने की ललक बरकरार रही। शारीरिक तौर पर बेहद तकलीफों के बावजूद उसने सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा हासिल किया। माँ-बाप पर आश्रित रहना उसे अपने गरिमा के खिलाफ़ लगता था। काम की तलाश की। एक प्राइवेट कम्पनी में बतौर सिविल इंजीनियर उसने काम भी किया। ज़िन्दगी की दौड़ में वह बार-बार हमउम्रों से पिछड़ जाता था। 3 अगस्त, 2008 को भेजे पत्र में उसने लिखा "मैं भी जानता हूँ कि मैं ये दौड़ जीत नहीं सकता पर फिर भी मैं हर बार दौड़ता हूँ जीतने के लिये नहीं पहला स्थान पाने के लिए भी नहीं बल्कि अपने आत्मसम्मान को बचाने के लिये अन्तिम स्थान पर आने के कलंक से बचने के लिए।"

अमित के शब्दों में यह अभिव्यक्ति आज के नौजवान की मनःस्थिति है। जहाँ सामान्य सहज ज़िन्दगी दुर्लभ होती जा रही है। गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा व पाखण्डपूर्ण दिखावे की संस्कृति में जो सफल उसके लिये इस समाज में जगह नहीं है। क्या आत्मसम्मान पूर्वक

जीवन जीने की ललक एक अपराध है? जो शख्स नफा-नुकसान के बटखरे पर फिट न बैठे उसकी जिन्दगी की कोई कीमत नहीं।

अमित की मौत इस सारी व्यवस्था और सामाजिक ढाँचे को कठघरे में खड़ा कर देती है। इस व्यवस्था में इंसान इंसान की तरह जी ही नहीं सकता। वह जीता है एक माल की तरह। जब उस माल का मूल्य समाप्त होने लगता है तो समाज और अपने लोग ही उसे स्टोर रूम में सड़ने के लिए फेंक देते हैं। रिश्तों में प्यार की गर्माहट नहीं बल्कि दया और रहम का सड़ा-बदबूदार मरहम रह जाता है। दोस्त तो धीरे-धीरे साथ ही छोड़ देते हैं। जिन्दगी में अर्थहीनता और अकेलेपन का जानलेवा अहसास लगातार आत्मा के मांस को कुतरता और काटता रहता है। और अन्ततः जीवन इतना पीड़ादायी हो जाता है कि जीवन और मृत्यु के बीच की बारीक रेखा की अनुभूति ही जाती रहती है। बल्कि जीवन इस कदर असहनीय हो जाता है कि मौत कहीं ज़्यादा आसान और प्रीतिकर लगने लगती है। इस आदमखोर समाज और व्यवस्था से

हम यही उम्मीद कर सकते हैं। यह अमित जैसे संजीदा, संवेदनशील और ज़हीन नौजवानों का इसी तरह भक्षण करती रहेगी। अगर इस पत्र को पढ़कर इस पूरे समाज को मानव-केन्द्रित सिद्धान्तों पर पुनर्गठित करने की तमन्ना किसी नौजवान और नागरिक में नहीं पैदा होती तो निश्चित रूप से उसे अपने मानस के मरुस्थल के बारे में सोचना चाहिए और सोचना चाहिए कि कौन-सी वे कसौटियाँ हैं एक अच्छा इंसान कहाने की जिस पर वह खरा उतरता है।

अमित के रूप में हमने अपना एक बेहद प्यारा दोस्त खो दिया है। अमित की मौत ने हमें इस पूरे निज़ाम को बदल डालने की चाहत और ज़िद से और अधिक सराबोर कर दिया है। अमित एक अहम लड़ाई हार गया, बहुत लड़ा, मगर हार गया। हम इस हार का बदला लेंगे और भगतसिंह के रास्ते पर चलते हुए इस समाज को आमूल ढंग से बदल डालने की लड़ाई को और आगे बढ़ाते जाएँगे।

- सम्पादक

शिक्षा जगत

गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति की छात्र-विरोधी काली करतूतें

● प्रशान्त

गोरखपुर विश्वविद्यालय पिछले कई वर्षों से अराजकताओं और अव्यवस्थाओं तथा भ्रष्टाचार का अड्डा बना हुआ है। शिक्षा का स्तर गर्त में चला गया है। हर छह महीने साल भर पर कुलपति बदलते रहते हैं। इन्हीं अव्यवस्थाओं के बीच इस सत्र में स्थायी कुलपति एन.एस. गजभिए की नियुक्ति हुई जो आई.आई.टी. कानपुर से आये हैं। जिससे छात्रों, कर्मचारियों तथा शिक्षकों को उम्मीद बँध गी थी कि विश्वविद्यालय की तस्वीर बदलेगी। और कुलपति ने भी कहा कि हम विश्वविद्यालय को नयी ऊँचाई और पहचान दिलायेंगे।

लेकिन सभी की आशाओं पर कुठाराघात करते हुए दो ही महीने के अन्दर कुलपति के एकतरफा और निरंकुश निर्णयों की बाढ़ सी आ गयी। नये सत्र की शुरुआत के पहले ही छात्रावासों को मरम्मत के नाम पर जबरिया खाली करा लिया गया। जिसमें न ही किसी छात्र से और न किसी कर्मचारी या छात्रावास प्रतिनिधियों से राय-मशविरा किये बिना एकतरफा तरीके से छात्र आन्दोलन के बावजूद पुलिस और पीएसी के बल पर छात्रावास खाली कराये गये। अब छात्रावास में मेस भी अनिवार्य कर दिया गया है। पूर्वांचल में गुरीब तथा आम घरों से आने वाले जो छात्र पहले 500-600 रुपये में अपना खर्च चला लेते थे, अब एक हजार रुपया मासिक दे कर सड़ा-गला तथा अधपका खाना खायेंगे। यह सब करते वक़्त छात्र हित से ज़्यादा ठेकेदार हित हावी था।

इस सत्र में कुलपति ने शासन की छात्र-विरोधी नीतियों से भी दो क़दम आगे जाते हुए शासन द्वारा निर्धारित सीटों को भी न भरकर एक काला कारनामा किया है। विदित हो कि गोरखपुर विश्वविद्यालय में कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में स्नातक स्तर पर कुल 3,353 सीटें हैं, जिनमें से इस बार केवल 2,283 सीटों पर प्रवेश लिया गया है, शेष 1,070 सीटों को यह कहकर

खाली छोड़ दिया गया है कि 'न्यूनतम योग्यता' रखने वाले विद्यार्थी ही नहीं मिले। बी.एससी. (गणित) की 352 सीटों में से महज़ 104 सीटों पर दाखिला लिया गया है और 248 सीटें खाली रखी गयी हैं। बी.एससी. (बायो) में 251 सीटों में से 100 सीटें खाली हैं और बी.एससी. (कृषि) में तो 360 सीटों में से 314 सीटों को भरने से इन्कार कर दिया है। बी.एससी. (गृहविज्ञान) की सभी 40 सीटें खाली छोड़कर विभाग को ही बन्द करने का इन्तजाम कर दिया गया है। बी.ए. की 1950 सीटों में से केवल 1,620 सीटें भरी गयी हैं और बी.कॉम. की 400 सीटों में से 362 सीटें भरी गयी हैं। इस पर कुलपति महोदय का तर्क है कि शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए 'योग्य विद्यार्थियों' को ही प्रवेश दिया गया है। कुलपति साहब को कौन बताये कि स्नातक में प्रवेश की न्यूनतम योग्यता इण्टरमीडिएट पास होती है। कट ऑफ़ अंकों का तर्क तब काम करता है जब सीटें कम हों और प्रवेशार्थी अधिक हों। लेकिन सीटों को खाली रखने के लिए न्यूनतम अंकों का तर्क देना सरासर मनमानी है, दूसरी बात क्या गॉव-देहात में खेती-बाड़ी से लेकर तमाम दूसरी ज़िम्मेदारियों को उठाते हुए, बाढ़-सूखे का मुक़ाबला करते हुए दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मील साइकिल चला कर पढ़ने जाने वाले विद्यार्थियों और पढ़ाई के अच्छे माहौल, कोचिंग तथा महँगी किताबों सहित तमाम सुविधाओं से लैस विद्यार्थियों को एक ही तराजू से तौला जा सकता है?

कुलपति तथाकथित गुणवत्ता और योग्यता का वही पुराना और घिसा-पिटा तर्क पेश कर रहे हैं जिसके नाम पर बीस वर्ष पहले लागू की गयी नयी शिक्षा नीति के तहत देश भर में लाखों सीटों में कटौती की गयी। फ़ीसों में कई गुना की बढ़ोत्तरी की गयी और इस तरह मज़दूरों-किसानों तथा निम्न मध्यवर्ग से आने वाले

आम घरों के बच्चों के लिए उच्च शिक्षण संस्थानों के दरवाजे एक-एक कर बन्द किये जा रहे हैं। यह तो ऐसे ही है जैसे कि कुछ लोगों को ट्रेक पर पहले ही आगे खड़ा कर दिया जाये और कुछ के पैरों में अलग-अलग आकार के पथर बाँधकर कहा जाये कि दौड़ो, जो आगे रहेगा उसे उच्च शिक्षा का पुरस्कार मिलेगा! तीसरी बात, अगर उन्हें शिक्षा की 'गुणवत्ता' की इतनी ही चिन्ता है, तो गोरखपुर सहित तमाम विश्वविद्यालयों में 'पेड सीटों' के खिलाफ आवाज़ क्यों नहीं उठाते? इस क़दम का व्यापक विरोध होने पर कुलपति महोदय अब सफ़ाई दे रहे हैं कि जिन विद्यार्थियों का विश्वविद्यालय में दाखिला नहीं हो सका है उन्हें महाविद्यालयों में 'एडजस्ट' करने की कोशिश की जायेगी। यानी गुणवत्ता की ज़रूरत केवल विश्वविद्यालय को है, महाविद्यालयों में गुणवत्ता का कोई मतलब नहीं है।

कुलपति महोदय ने एक क़दम और आगे बढ़ते हुए सांध्यकालीन कक्षाओं को भी समाप्त कर दिया। सांध्यकालीन कक्षाओं में शिक्षा के गिरते स्तर, अव्यवस्था तथा स्रोत-संसाधनों की कमी का रोना रोते हुए यह काम किया है। इस वजह से भी हज़ारों छात्रों में निराशा फैल गयी, जो यह आस लगाये बैठे थे कि सांध्यकालीन कक्षाओं में प्रवेश लेकर अपनी उच्च शिक्षा को बरकरार रख पायेंगे। लेकिन यहाँ यह सवाल उठता है कि जब स्रोत संसाधनों की कमी थी तो इसके पहले के कुलपतियों ने सांध्यकालीन कक्षाओं को बन्द क्यों नहीं किया? दूसरे, स्रोत-संसाधनों के मद में जो करोड़ों रुपये सालाना मिलते हैं उसका विश्वविद्यालय क्या करता है? अब तक ज़रूरी स्रोत-संसाधनों की पूर्ति के लिए सरकार से मांग क्यों नहीं की गयी? और सबसे अहम सवाल यह है कि इन सारी बदतर स्थितियों के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन जिम्मेदार है या छात्र? विश्वविद्यालय के प्रशासनिक अधिकारियों और कुलपतियों की अकर्मण्यता के नतीजे छात्र क्यों भुगतें? विश्वविद्यालय प्रशासन अगर चाहता तो छात्र हितों को देखते हुए सांध्यकालीन कक्षाओं को चलाते हुए भी स्रोत-संसाधन की कमी को पूरा कर सकता था। इससे छात्रों का नुकसान तो हुआ ही, साथ ही उन कर्मचारियों तथा शिक्षकों की नियुक्ति भी खतरे में पड़ गयी जो विशेष तौर पर सांध्यकालीन कक्षाओं के लिए ही भर्ती किये गये थे। इन छात्र विरोधी कारनामों की बानगी पिछले दिनों ही देखने को मिल गयी। जब विश्वविद्यालय में यह सब कारनामे हो रहे थे, तभी कुशीनगर ज़िले के तरकुलवा थाना क्षेत्र के एक छात्र सोनू (22 वर्ष) की आत्महत्या की खबर अखबारों में प्रकाशित हुई, जिसका कारण स्नातक में प्रवेश न मिलना था। ऐसे ही कितने गरीब छात्रों की पढ़ाई इन नीतियों की भेंट चढ़ जा रही है।

सांध्यकालीन कक्षाओं की समाप्ति शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार के तंत्र को उजागर करती है। निजी महाविद्यालयों के प्रबन्धकों की तरफ़ से पिछले सत्र से ही विश्वविद्यालय के प्रशासनिक अधिकारियों पर यह दबाव पड़ रहा था कि सांध्यकालीन कक्षाओं को समाप्त करें, क्योंकि सांध्यकालीन कक्षाओं के समाप्त हो जाने से यहाँ आये गाँवों के छात्र अपने गाँवों-कस्बों के आसपास कुकुरमुत्तों की तरह उग आये महाविद्यालयों में ही पढ़ेंगे और वहाँ पर मोटी-मोटी फ़ीस देंगे। शायद इन्हीं प्रबन्धकों की इच्छा का खयाल करते हुए कुलपति साहब को सांध्यकालीन कक्षाओं की गुणवत्ता का भी खयाल आ गया।

प्रोफ़ेसर एन.एस. गजभिए के इन काले कारनामों से आपको

लग रहा होगा कि यह कुलपति वाकई हिटलर है। ऐसा नहीं है साथियो! गजभिए साहब सिर्फ़ आम छात्रों, कर्मचारियों के लिए ही हिटलर हैं। बाकी प्रशासनिक अधिकारियों, मोटी-मोटी तनख़्वाह पाने वाले प्रोफ़ेसरों आदि के लिए बहुत ही अच्छे कुलपति और प्रशासक हैं। अभी ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं के प्रस्तावों के लिए ग्यारह सितम्बर से चौदह सितम्बर के बीच यू.जी.सी. की टीम आयी थी। इस टीम की आवभगत, सेवा-सत्कार और घूमने और ठहरने के मद में लाखों रुपये खर्च किए गए। इतना ही नहीं कुलपति अपने तथा अपने प्रिय पात्रों की विशेष सुविधाओं पर विश्वविद्यालय के लाखों रुपये फूँक रहे हैं।

यह कहानी सिर्फ़ गोरखपुर विश्वविद्यालय की ही नहीं है। पूरे देश में 1987 की नयी शिक्षा नीति के बाद लगातार सीटों की कटौती, फ़ीसों की बढ़ोतरी तथा नये-नये निरंकुश निर्णय लेकर आम छात्रों को कैम्पसों से बाहर किया जा रहा है। 1991 की नयी आर्थिक नीति के बाद तो शिक्षा को एक महंगा बाज़ारू माल बनाया जा रहा है। पेड सीटों तथा प्रवेश परीक्षाओं के नये-नये बैरिक्ड खड़े किये जा रहे हैं। दूसरी तरफ़, छात्र संघर्षों को कुन्द करने के लिए नये-नये छात्र विरोधी नियम-क़ानून बनाये जा रहे हैं। छात्र संघों को सुधारने के नाम पर लिंगदोह कमेटी के द्वारा छात्र संघों को नख-दन्त विहीन कर दिया गया है। छात्र संघों को लगातार प्रतिबन्धित किया जा रहा है। कैम्पसों में पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों के पिछलग्गू छात्र संगठनों ने छात्र राजनीति को एम.पी-एम. एल.ए. बनने का ट्रेनिंग सेंटर बना रखा है। क्रान्तिकारी छात्र राजनीति आज बिखरी हुई है या अधिकांश कैम्पसों में न के बराबर है। 1991 से आर्थिक नीतियों का जो बुलडोज़र चल रहा है, यह सब उससे अलग नहीं है। आम छात्रों को यह बात समझनी होगी तथा कैम्पस की अपनी लड़ाई को आम जनता के संघर्षों से जोड़ना होगा। तभी जाकर ऐसे जन-विरोधी, छात्र-विरोधी हिटलरों का सामना किया जा सकता है।



भगतसिंह ने कहा...

“क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ़ एक ही अर्थ हो सकता है जनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में, यही है 'क्रान्ति', बाकी सभी विद्रोह तो सिर्फ़ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूँजीवादी सड़ोंध को ही आगे बढ़ाते हैं। किसी भी हद तक लोगों से या उनके उद्देश्यों से जतायी हमदर्दी जनता से वास्तविकता नहीं छिपा सकती, लोग छल को पहचानते हैं। भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों को भारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जो कि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसके जड़ें शोषण पर आधारित हैं आगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते।

(‘क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा’ से)

हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशाला : उड़ीसा

• तपिश

पिछले लगभग एक महीने से उड़ीसा में जो कुछ हो रहा है उसने हर तर्कसंगत और सोचने वाले इंसान को अन्दर से झिंझोड़ कर रख दिया है। 17 सितम्बर को विश्व हिन्दु परिषद के स्वामी लक्ष्मणानंद की हत्या के बाद से बजरंग दल और वि.हि.प. की गुण्डा वाहिनियों ने राज्य के ईसाइयों पर जुल्म जारी कर रखा है। तब से दर्जनों चर्च जलाए जा चुके हैं, दर्जनों जानें जा चुकी हैं और ईसाई दलित महिलाओं पर जघन्यतम अत्याचार किये जा रहे हैं। एक नन के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया, बड़ी संख्या में चर्चों से ईसाई दलितों को निकालकर उन्हें नंगा करके परेड कराई गई, उनकी हत्याएँ की गई, उन्हें लूटा गया और उनका बलात्कार किया गया। यह सबकुछ लगातार चल रहा है और राज्य सरकार कोई कदम नहीं उठा रही है। पुलिस इन सारे अपराधों की मूक दर्शक बनी हुई है और उड़ीसा के दलित ईसाई अजीब असहायता की स्थिति में हैं। आखिर वे किसके पास जाएँ? कहाँ रपट लिखाएँ? नवीन पटनायक सरकार ने तय कर लिया है कि वह इस पूरे घटनाक्रम से आँख मूँदकर बैठी रहेगी। केन्द्र सरकार ने तय कर लिया है कि वह इस पर उड़ीसा की सरकार को चेतावनियाँ, धमकियाँ और गीदड़भभकियाँ देती रहेगी लेकिन कुछ भी नहीं करेगी।

इन सबके पीछे कई कारण काम कर रहे हैं। पहले तो लक्ष्मणानंद की हत्या के पीछे की सच्चाई जान लेने की ज़रूरत है। लक्ष्मणानंद पिछले लगभग तीन दशक से कंधमाल और उड़ीसा के कई इलाकों में हिन्दुत्व की प्रयोगशाला तैयार करने में लगा हुआ था। आदिवासियों के बीच वह तमाम स्कूल व संस्थान चला रहा था और उन्हें हिन्दू बनाने की मुहिम में लगा हुआ था। ईसाई मिशनरियों दूसरी ओर आदिवासियों की गरीबी का लाभ उठाकर उन्हें कंबल, दवाइयाँ आदि बाँटकर और आत्मसहायता समूह बनवाकर उन्हें रोज़गार देने में मदद करके उन्हें ईसाई बनाने में लगी हुई थीं। लक्ष्मणानंद का काम यह था कि वह ईसाई मिशनरियों के प्रभाव को फैलने से रोके, आदिवासियों के मानस का हिन्दूकरण करे और गुजरात की तर्ज पर आदिवासियों को हिन्दू फासीवाद के पक्ष में खड़ा करके उड़ीसा को साम्प्रदायिक फासीवाद की नयी प्रयोगशाला बनाने का काम करे। लक्ष्मणानंद इस काम को बखूबी अंजाम दे रहा था। उस पर पहले भी हमला हुआ था और पुलिस तब भी असली हमलावरों की तलाश में असफल रही थी। तब भी

इस हमले का बहाना बनाकर खूब बड़े पैमाने पर ईसाइयों के खिलाफ़ हिंसा की गई थी। इस बार भी पुलिस उसपर हमला करने वालों का सुराग लगाने में असफल रही है और इस बार भी इसको बहाना बनाकर ईसाइयों को निशाना बनाया जा रहा है। ज्ञात हो कि हमले के शिकार लोगों में अधिकांश बेहद गरीब मज़दूर आबादी है। बजरंगदलियों के इन कुकर्मों पर भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह का कहना है कि यह हिन्दुओं का आक्रोश है जिसके कारण हिंसा हो रही है! लालकृष्ण आडवाणी ने भर्त्सना का पुराना राग गाकर इतिश्री कर ली है। ऐसे में गौरतलब बात यह भी है कि माओवादियों ने लक्ष्मणानंद की हत्या की जिम्मेदारी ले ली है। फिर भी बजरंगदलियों ने ईसाई अल्पसंख्यकों पर हमला जारी रखा है। धर्मांतरण के खिलाफ़ आक्रोश के नाम पर हो रही इस साम्प्रदायिक हिंसा के मूल कारण कहीं और हैं। भाजपा एक बार फिर हिन्दुत्व की लहर पर सवार होकर सत्ता में आना चाहती है। इसीलिए कर्नाटक से लेकर उड़ीसा और मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ तक में खोए हुए पौरुष को पुनःप्राप्त करने के लिए हिन्दुत्व के 'प्रयोग' किये जा रहे हैं। लोकसभा चुनाव भी 2009 में हैं और 2009 की शुरुआत में ही उड़ीसा के भी चुनाव हैं। ऐसे में हिन्दु वोटों के धुवीकरण की भाजपा को सख्त ज़रूरत है।

दूसरी बात यह कि उड़ीसा देश के निर्धनतम प्रान्तों में से एक है और इसके कुछ इलाके तो निस्सन्देह रूप से निर्धनतम हैं। बढ़ती महँगाई और बेरोज़गारी की उड़ीसा की गरीब जनता पर अभूतपूर्व चोट पड़ रही है और इस आबादी में व्यवस्था और सरकार के प्रति गुस्से का लावा उफन रहा है। इससे निपटने के लिए साम्प्रदायिकता का खेल खेला गया है ताकि असल मुद्दों से जनता का ध्यान भटक जाए और वे धर्मांतरण के मुद्दे को लेकर आपस में मार-काट करें। सच्चाई तो यह है कि गरीबी के कारण ही अधिकांश धर्मांतरित लोग ईसाइयत की तरफ़ आकर्षित हुए हैं। लेकिन सबसे बड़ी समस्या हिन्दुत्व की लहर पर सवार होकर सत्ता पाने की इच्छुक साम्प्रदायिक फासीवादी भगवा ब्रिगेड है। सच्चाई यह है कि वोटों का खेल करीब आ रहा है और अपनी गोटियाँ लाल करने की खातिर एक बार फिर कफनखसोट-मुर्दाखोर चुनावी पार्टियाँ गरीबों की लाशों पर रोटियाँ सेंकने से बाज़ नहीं आएंगी। यही उड़ीसा में हो रहा है। हमें इसकी सच्चाई को समझने की ज़रूरत है।

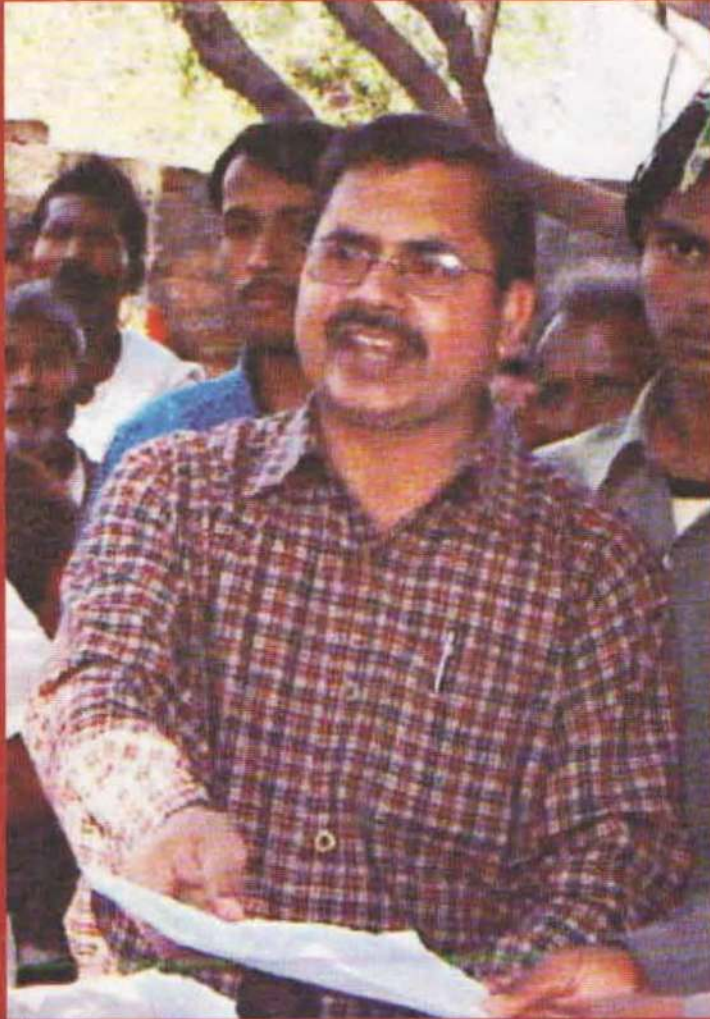
आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर, • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.30 तक) • जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8) • तपिश, येलो प्लेनेट, जी-264, संजय नगर, गाज़ियाबाद • शहीद पुस्तकालय, द्वारा डॉ. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, मर्यादपुर, मऊ **दिल्ली** • अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • सत्यम, सी-74, दिव्यज्योति अपार्टमेंट, सेक्टर-19, रोहिणी • पून, रूम नं.-13, हिन्दू कॉलेज हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • हेम बुक सेंटर, जे.एन.यू. • यू. स्पेशल : दि यूनिवर्सिटी बुकशॉप, नॉर्थ कैम्पस, दि.वि.वि. **बिहार** • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफेसर कॉलोनी, सी. एन. कॉलेज साहेबगंज, पो.-करनौल, जिला मुजफ्फरपुर **राजस्थान** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • शैलेन्द्र चौहान द्वारा शिवराम सं. 'अभिव्यक्ति', 4/P/46, तलबण्डी, कोटा • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ कोर्स स्कीम, एयर फोर्स, जोधपुर **हरियाणा** • डॉ. सुखदेव हुंदल, ग्राम+पोस्ट सतनगर वाया जीवन नगर, सिरसा **महाराष्ट्र** • सन्नी/प्रशांत, रूम नं.-31, हॉस्टल नं.-6, आई.आई.टी. मुम्बई, पवई, मुम्बई **पंजाब** • सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज-3, पखोवाल रोड, लुधियाना नवजोत, रूम न. 1/49, बाँयज़ हॉस्टल न.-7, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़



नहीं तेरा बसेरा कसे-सुल्तानी के गुम्बद पर
तू शाहीं है बसेरा कर पहाड़ों की चट्टानों पर!

साथी अरविन्द तुम हमारे लड़ने की ज़िद बनकर
हमारे बीच हमेशा मौजूद रहोगे!



ज़िन्दगी लड़ती रहेगी, गाती रहेगी
कारवाँ चलता रहेगा, चलता रहेगा
साथी अरविन्द को आह्वान की टीम का
आखिरी इंकलाबी सलाम!